शरीर की उज्ज्वलता की रक्षा, मेधा वृद्धि में सहायता और शरीर को मनोरम व सुन्दर बनाना।

१. **पाचक पित्त का कार्य**—पाचक पित्त अग्न्याशय में उत्पन्न होता है। खाद्य वस्तुओं को जीर्ण करना, खाद्यों के सार-भाग को रस में परिणत करना, मूत्र-पुरीष, पसीना, थूक, सर्दी आदि, असार अंशों को रसांश से अलग कर देना, शरीर में उचित प्रकार से तापवृद्धि करके रोगविष नष्ट कर देना, तापमान की समता की रक्षा करके देह-रक्षाकारी और देह-पोषणकारी जीव कोषों को उत्पत्ति में सहायता करना आदि पाचक पित्त के कार्य हैं। पाचक पित्त के दोषयुक्त होने से अजीर्ण, अम्ल, कोष्ठ-बद्धता **उदामय** आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

२. **रंजक पित्त का कार्य**—रंजक पित्त यकृत् में उत्पन्न होता है। पाचक पित्त जीर्ण अंशों के सारांश रस को समान वायु की सहायता से यकृत् में भेज देता है। यकृत् रंजक पित्त की सहायता से उस रस का शोधन करता है। उस शोधित खाद्य रस में और कुछ रंजक पित्त मिल जाने से खाद्य रस रक्तवर्ण में रंजित होकर खून बन जाता है। खाद्य रस को रक्त वर्ण में रंजित करने से इसका नाम रंजक पित्त पड़ गया है। रंजक पित्त का बाकी अंश उदरस्थ खाद्य वस्तु को जीर्ण करने में लग जाता है। रंजक पित्त दूषित होने से रक्तहीनता, कमला रोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

३. **साधक पित्त का कार्य** साधक पित्त के प्रभाव से ही मानव देह में उत्साह और उद्यम की सृष्टि होती है। दुःसाध्य कार्यों को सुसाध्य करने के लिये इससे ही प्रेरणा मिलती है। पाचक पित्त और रंजक पित्त का सूक्ष्मांश ही साधक पित्त के रूप में रूपान्तरित होता है। मन को प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न करने में यह साधक पित्त ही विशेष रूप से मदद करता है। यह साधक पित्त ही बुद्धि, धृति और स्मृति के वर्द्धन में सहायता पहुँचाता है। साधक पित्त दोषयुक्त होने से मूर्च्छा रोग, संन्यासरोग, मस्तिष्क-विकृति आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

४. **आलोचक पित्त का कार्य**—पित्त का जो सूक्ष्मांश चक्षुओं में रहता हुआ, दृष्टि-शक्ति में रूपान्तरित होता है, उसका नाम ही आलोचक पित्त है। साधकों को अतीन्द्रिय दर्शन या दिव्य दृष्टि-लाभ भी इस आलोचक पित्त की सहायता से होता है। आलोचक पित्त दोषयुक्त होने से आँखों की दृष्टि-शक्ति घट जाती है और आँखों में मोतिया बिन्द भी हो जाता है।

५. भ्राजक पित्त का कार्य—पित्त का जो सूक्ष्मांश या सारभाग देह में दीप्ति के रूप में प्रकाश पाता है वह शरीर में वर्ण की आभा पैदा करता है, उसका नाम ही भ्राजक पित्त है। यह भ्राजक पित्त ही चर्म में रहता हुआ रोग-विष और रोग-कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर के चर्म की रक्षा करता है। इस भ्राजक पित्त के दोषयुक्त होने से विविध चर्मरोग और गात्र विवर्णता आ जाते हैं।

पित्त अम्ल को पैदा करता है। जिस खाद्य को जीर्ण होने में पित्त की सहायता का प्रयोजन होता है उस खाद्य को जीर्ण करके पित्त खुद भी जीर्ण हो जाता है। पित्त के द्वारा जीर्ण खाद्य ही अम्ल रस में परिणत हो जाता है। देह का स्वस्थ रक्त हमेशा ही लवणाक्त रहता है। इस पर भी कुछ अंश अम्ल रस है। पित्त के द्वारा जीर्ण खाद्य ही रक्त को प्रयोजनीय अम्लरस देकर रक्त की देह-पुष्टि के विधान करने की शक्ति को ठीक रखता है। यह पित्त खाद्य वस्तु को यदि जीर्ण न कर सके तो अजीर्ण खाद्य के साथ यह पित्त खुद भी विकृत हो जाता है। इस विकृत पित्त से देह में अम्लविष पैदा होता है और देह रोगाक्रान्त हो जाता है।

श्लेष्मा तत्त्व

रसप्रधान पंचभूतों का सारांश ही श्लेष्मा है। देह की सब ग्रन्थियों को और देह के सब धातुओं को यह श्लेष्मा ही पोषण करता है। यह श्लेष्मा ही विशेष रूप से जीर्ण होकर लवण रस में परिणत हो जाता है। श्लेष्मा ही देह के बलस्वरूप ओजः धातु नाम से अभिहित है। श्लेष्मा ही देह रक्षण, देह गठन और देह पोषण करता है। रस, रक्त, मांस, मेदः, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन धातुओं का सारस्वरूप यह ही तेज या ओज है। ओज देहस्थिति का कारण है। देह में ओज की वृद्धि होने से देह की तुष्टि, पुष्टि, बल का उदय होता है। श्लेष्मा भी पाँच भागों में विभक्त होकर देहों को धारण कर रहा है।

श्लेष्मा के पाँच भाग ये हैं:—

१. क्लेदन श्लेष्मा

२. अवलम्बन श्लेष्मा

३. रस श्लेष्मा

४. स्नेहन श्लेष्मा
५. शोषण श्लेष्मा

१. **क्लेदन श्लेष्मा का कार्य**—क्लेदन श्लेष्मा अन्नों को रस से जारित करके उसको क्लिन्न अर्थात् चूर्ण और गन्धित करता है। खाद्य वस्तुओं को उदर में प्रविष्ट करने के साथ-साथ पाकस्थली के धमनी गात्र की क्षुद्र-क्षुद्र ग्रन्थियों से यह रस निकल कर खाद्य वस्तुओं को जारित करता है और फेनमय करता है। यह क्लेदन श्लेष्मा ही पाक स्थली का पाचक रस है। अग्नितप्त से जल उत्तप्त होकर अन्न को जिस रूप में सिद्ध करके कोमल और नरम करता है ठीक उसी तरह पाचक पित्त के ताप से यह पाचन रस या क्लेदन श्लेष्मा उत्तप्त होकर अन्न को क्लिन्न और आर्द्र करता है और अन्त को रस के रूप में परिणत होने में मदद करता है। अन्न से भी एक प्रकार का पाचक रस निकल कर अजीर्ण या अर्धजीर्ण अन्न को जीर्ण करने में मदद करता है, यह ही क्लेदन श्लेष्मा है। यह क्लेदन श्लेष्मा दूषित होने से अजीर्ण अग्नि-मान्द्य और रक्त की कमी आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

२. **अवलम्बन श्लेष्मा का कार्य**—लौहयन्त्र तैलचर्चित न होने से गतिमान् नहीं होता है, तैलचर्चित रहने पर ही लौहयन्त्र के एक अंग के साथ दूसरे अंग का घर्षण नहीं होता है। अवलम्बन श्लेष्मा का शैत्यगुण पित्त के उत्ताप से भी देह यन्त्रों को बचाता है। अवलम्बन श्लेष्मा सम्पूर्ण शरीर में रहता है, लेकिन वक्षः स्थल ही उसके रहने का प्रधान स्थान है। हृदय-यन्त्र और फेफड़ा इस अवलम्बन श्लेष्मा से सिक्त रहता है। इसलिये वक्षःअस्थियों से इन का संघर्षण नहीं होता है। वायु ही इस अवलम्बन श्लेष्मा को देह के सर्वांशों में भेज देता है। और देह-यन्त्रों को सिक्त करके संचालन करता है। अवलम्बन श्लेष्मा दूषित होने पर शरीर में अलसता और जड़ता आ जाती है।

३. **रसनश्लेष्मा का कार्य**—रसना-स्थान अर्थात् जिह्वा को केन्द्र करके जिस श्लेष्मा की उत्पत्ति होती है उसी का नाम रसनश्लेष्मा है। इसका दूसरा नाम "बोधक श्लेष्मा" है। साधारण भाषा में इसका नाम "लार" या लाल" है। यह लाला ग्रन्थि-निःसृत रस है। यह रसन श्लेष्मा ही जिह्वा में रसास्वादन को जगाता है। यह अन्न की परिपाक क्रिया में मदद करता है। दूर्ति होने से अक्षुधा की सृष्टि होती है। सब खाद्य ही स्वादहीन मालूम पड़ता है।

४. **स्नेहन या तर्पक श्लेष्मा** यह श्लेष्मा अपने रसस्राव द्वारा सब इन्द्रियों की तृप्ति, तुष्टि और पुष्टि करता है। देह की ग्रन्थियाँ रक्त के सारांश रस को जीर्ण करके ही सुपुष्ट होती हैं। इन सुपुष्ट ग्रन्थियों से ही स्नेहन या तर्पक श्लेष्मा क्षरित होती है। यह तर्पक श्लेष्मा ही सब देह-यन्त्रों की पुष्टि करती है। इस तर्पक श्लेष्मा के आंशिक अभाव से भी देह का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। सब देह-यन्त्रों पर ही तर्पक श्लेष्मा का विशेष प्रभाव है। चक्षु और कर्णेन्द्रियादि तर्पक श्लेष्मा से अपनी-अपनी पुष्टि ले लेते हैं। इस श्लेष्मा के अभाव हो जाने से दृष्टि-शक्ति और श्रवण आदि का ह्रास हो जाता है। तर्पकश्लेष्मा का प्रधान केन्द्र या कर्म स्थान मस्तिष्क है। तर्पकश्लेष्मा को ही सोमधारा या अमृत धारा बोला जाता है। मस्तकस्थित और मस्तकक्षरित इस सोमधारा के द्वारा ही देहस्थ सब धातु सदा प्राणवान् रहते हैं। यह स्नेहन या तर्पक श्लेष्मा ही सूक्ष्म रूप से सब चर्मस्थानों में व्याप्त रहकर स्थानों को नीरोग रखती है। श्लेष्मा के दोषयुक्त होने से स्मृति-शक्ति और श्रवण-शक्ति ह्रास को प्राप्त होती है।

५. **शोषण श्लेष्मा का कार्य**—देह की सब अस्थि-सन्धियाँ या अन्य-सन्धियाँ जिस रसधारा से सदा प्लावित रहती हैं उसी का नाम शोषण श्लेष्मा है। इसके रहने से अस्थि-अस्थियों में संघर्षण नहीं होता है। यह शोषण श्लेष्मा अस्थियों के सन्धि स्थानों में स्नायु और मांस पेशियों को सबल, स्वस्थ और सरस रखता है। इसलिये अंग-प्रत्यंग वगैरह यथोचित रूप से सञ्चालन करने में असुविधा नहीं होती। इस शोषण श्लेष्मा के दूषित होने से अस्थि-सन्धि-स्थानों में रोगविष सञ्चित होता है और वहाँ वात रोग का आक्रमण होता है।

त्रिदोष—केवल वायु, केवल पित्त या केवल श्लेष्मा के दूषित होने से जिस रोग की उत्पत्ति होती है वह एकदोषज रोग है। इसकी चिकित्सा सहज है। वायु पित्त-वायु-श्लेष्मा या पित्त-श्लेष्मा के प्रकोप से जो रोग उत्पन्न होता है उसका आरोग्यलाभ एक दोषज से कठिन होता है। त्रिधातु के प्रकोप से जो रोग उत्पन्न होता है वह बहुत ही मारात्मक होता है।

श्वास-प्रश्वास व आयु

गुरुजी ने कहा था—मनुष्येतर प्राणी पशु, पक्षी, सर्प आदि भी

प्राणायाम करते हैं। मनुष्यों ने उनसे ही प्राणायाम को सीखा है। श्वास-प्रश्वास के साथ जीवों की आयु का निकट सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास जिस प्राणी का जितना कम है उसकी आयु उतनी ही अधिक हो जाती है और श्वास-प्रश्वास जितना अधिक होगा उतनी ही आयु कम हो जाती है। प्राचीन योगियों ने समय का परिमाण और श्वास-प्रश्वास की संख्या के अनुपात से आयु का हिसाब निकाला था। आधुनिक योगियों ने एक मिनिट समय लेकर हिसाब प्रकाशित किया है :—

प्राणी	श्वास-प्रश्वास की संख्या एक मिनट में	आयु के वर्ष
१. कछुआ	४/५	१५०/१५५
२. सर्प	७/८	१२०/१२२
३. हस्ती	११/१२	१००/१२०
४. मनुष्य	१२/१३	१००/१५०
५. घोड़ा	१८/१९	४८/५०
६. बिल्ली	२४/२५	१२/१३
७. छाग	२३/२४	१२/१३
८. कुत्ता	२८/२९	१३/१४
९. बन्दर	३१/३२	२०/२१
१०. कबूतर	३७/३८	८/९
११. शशक	३८/३९	८/९

मनुष्य एक दिन-रात में १८ हजार ७ सौ २० वार श्वास-प्रश्वास निर्वाह करता है। प्रति मिनट में १३ वार श्वास-प्रश्वास के हिसाब से २४ घण्टे = १४४० मिनट में = १८७२० श्वास-प्रश्वास लेता है। इससे कोई-कोई योगी कहते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्यों के श्वास-प्रश्वास का परिमाण आज कल से कम था। इसलिए आयु अधिक होती थी। आज कल श्वास प्रश्वास का परिमाण अधिक होने के कारण आयु का परिमाण कम होता जा रहा है। आजकल भी प्राणायाम का अभ्यास मनुष्यों में जितना होता रहेगा उतनी ही आयु बढ़ती रहेगी।

सीनोर और चाणोद में

गुरु स्वामी योगानन्द सरस्वती के साथ व्यासाश्रम में रह कर

योगविद्या के विभिन्न अंगों के बारे में शिक्षा ग्रहण की थी। व्याकरण के जटिल प्रश्नों के समाधान के लिये किसी अच्छे वैयाकरण के पास जाना जरूरी समझ कर गुरुजी ने मुझे सीनोर में पं० श्री कृष्ण शास्त्री के पास भेज दिया था। वहाँ रह कर मैं व्याकरण की उच्चतर शिक्षा प्राप्त करता रहा था।

(२)

पुनः चाणोद में

सीनोर में प्रसिद्ध वैयाकरण पं० श्रीकृष्ण शास्त्री से व्याकरण शास्त्र का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये और क्रियात्मक रूप से योगविद्या सीखने के लिए मैं चाणोद में पहुँच गया था। पता लगा था कि वहाँ स्वामी श्री ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि नाम के दो योगी पुरुष रहते हैं। दोनों ने मुझे योगविद्या सिखाने के लिए शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। पहले स्वामी ज्वालानन्द ने मुझे वचनात्मक रूप से हठयोग की शिक्षा दी थी और स्वामी शिवानन्द ने मुझे क्रियात्मक रूप से राजयोग की शिक्षा दी थी। आज तक भी उन दोनों की योग-शिक्षा के पाठ पर ही मेरा यौगिक जीवन चालू है। उन दोनों का मैं आभारी हूं। उन्होंने मुझे कठोर परीक्षाओं में रखा और उत्तीर्ण होने पर शिष्य के रूप में ग्रहण कर लिया। सीनोर से आकर मैंने तीन वर्ष का काल चाणोद और अहमदाबाद में योग-शिक्षा के लिए बिताया था। तत्पश्चात् और तीन वर्ष का काल आबू पर्वत में रह कर योग-सिद्ध पुरुषों की संगति में बिताया था। इस छःवर्ष के काल को मैं अपने जीवन का सर्वोत्तम अंश समझता हूं, योगविद्या की शिक्षा और अनुभव के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण देना मेरी इच्छा के प्रतिकूल है। तो भी कलकत्ते के शिक्षित,ज्ञानी और भक्त लोगों के ऐकान्तिक मनोभाव और आग्रह को देखकर मैं इसका संक्षिप्त वर्णन अवश्य ही करूँगा।

मेरे मृत्यु-काल तक उस का प्रकाशन नहीं होना चाहिए।

हठ-योग*

यह पहले ही बता दिया गया था कि योग चार प्रकार के हैं—१. हठ योग, २. राज योग, ३. मन्त्र योग, ४. लय योग। इनमें हठयोग से शरीर और मन स्वस्थ और सतेज होकर दूसरे योगों के लिए उपयोगी बन जाते हैं। हठ योग के साधन से योगी क्षुधा-तृष्णा, निद्रा-आलस्य, शीतोष्ण, आधि-व्याधि, रोग-शोक, जरा-वार्धक्य आदि द्वन्द्व-समूह पर विजय-लाभ करते हैं। हठ-योगी 'त्राटक-योग' के अभ्यास से दूर दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि और अव्याहत दृष्टियों को बढ़ाते हैं 'कुम्भक योग' के द्वारा योगी लोग बहुत दिन तक निराहार तथा नीरोग होकर रह सकते हैं। इन सब यौगिक विभूतियों का मैंने स्वयं अनुभव किया है। हठ योग दो प्रकार का है—गोरक्ष मुनि का छः अंग वाला योग और मार्कण्डेय मुनि का आठ अंग वाला योग। उभय प्रकारों का उद्देश्य कैवल्यलाभ ही है।

हठ-योग के पाठ—शरीर को नीरोग और दृढ़ रखने के लिए गुरुजी ने मुझे इन सब प्रक्रियाओं की शिक्षा दी थी—धौति, नेति, वस्ति, श्वास-परिवर्तन, आतप-स्नान, जल-स्नान, नासा-पान, जल-पान, कुम्भकयोग, त्राटक-योग, आसन और मुद्रा।

धौति-क्रिया—धौति से शरीर को पूर्णतया नीरोग और स्वास्थ्य-वान् किया जा सकता है। वायु-धौति, अग्नि-धौति, जल-धौति, और वस्त्र-धौति के अभ्यास साधारणतः प्रचलित हैं। रोगी या भोगियों के लिए इसका अभ्यास करना कठिन है। इससे उदर और वक्षः स्वच्छ होते हैं।

नेति-क्रिया—नासा के द्वारा नेति-क्रिया की जाती है। नेति-क्रिया से कंठ और ललाट निर्मल होते हैं।

---

* हठ-योग में बस्ति उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते से पानी चढ़ा कर सफाई करना। टकटकी लगाकर इस तरह से देखने को कि जिसमें पलक न झपके त्राटक कहते हैं। नासिका में सूत्र डाल कर मुख से निकालने को नेति कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा और १६ से लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में लेकर, डाल कर फिर बाहर निकालने को धौती कहते हैं। यह बाजीगर का खेल है। इनसे कब निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे, यह हठयोग वाले ही जानें। इन कामों से बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं—(उपदेश मञ्जरी ११ व्याख्यान)।

वस्ति-क्रिया—योगी लोग जल-वस्ति, स्थल-वस्ति आदि के द्वारा पाक-स्थली के और अन्त्र के दूषित और संचित मल को निकाल देते हैं।

श्वास-परिवर्तन किसी रोग का आक्रमण समझने के बाद इड़ा नाड़ी के श्वास को पिंगला नाड़ी और पिंगला नाड़ी के श्वास को इड़ा नाड़ी में लाने से ही आक्रमणकारी रोग बन्द हो जाता है। वाम नासा-रंध्र से इड़ा नाड़ी को और दक्षिण नासा-रंध्र से पिंगला नाड़ी को सूक्ष्म प्राण पहुँचता है।

आतप-स्नान—धूप में अनावृत शरीर को परिमित और नियमित रूप से रखने से चर्मरोगादि और कुष्ठ जैसी व्याधियों तक का विनाश हो जाता है।

जल स्नान—जलाशय में विशेष कर के स्रोतस्विनी नदी में नियमानुसार अवगाहन स्नान करने से शरीर नीरोग, स्वच्छ और स्निग्ध हो जाता है।

नासा-पान—उषा काल में प्रशस्त और गम्भीर पात्र में जल रखकर जल पात्र को मुख के समीप रख कर नासारन्ध्रों को उसमें डुबा के नासा-रन्ध्रों से ही धीरे-धीरे जल आकर्षण कर भीतर को लेना और पी लेना ही नासा-पान है। इससे शरीर के अन्दर रोगों के बीजाणु नासारन्ध्र तक टिक नहीं सकते हैं और शरीर नीरोग रहता है।

जल-पान—सवेरे निद्रा-भंग होते के साथ ही साथ मुख धोकर यथाशक्ति केवल पानी ही पी लेना, पिपासा हो तो दोपहर के खाना खाने से कुछ पहले पानी लेना, खाना खाने के कुछ देर बाद पानी पी लेना और रात को भी सोने से पहले नियमित पानी पी लेना ही जलपान है। इससे भी शरीर नीरोग रहता है।

त्राटक योग—उदयकालीन चन्द्र-सूर्य के प्रति, प्रतिबिम्ब में अपनी आँखों के प्रति, दूसरे की आँखों की दृष्टि के प्रति पलकहीन और अविच्छिन्न दृष्टि रखना ही 'त्राटक योग" है। इससे एकाग्रता, धारणा शक्ति और दृष्टि-शक्ति की वृद्धि होती है। गुरु जी ने मुझे इसी प्रकार सम्पूर्ण क्रिया योग की शिक्षा दी थी।

आसन—योगाभ्यास और रोगनिवारण के लिए आसन बहुत प्रकार के हैं। योगाभ्यास के लिए प्रधान आसन चौरासी या बत्तीस प्रकार

के हैं। इन में से **पद्मासन और सिद्धासन** सहज योगाभ्यास के लिए उपयोगी हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि के लिए पद्मासन, सिद्धासन और अर्ध पद्मासन ही ग्रहणीय हैं।

गुरुजी से मैंने इस प्रकार सौ प्रकार के आसन सीख लिए थे—अर्ध कूर्मासन, गोमुखासन, चक्रासन, जानुशीर्षासन, त्रिकोणासन, धनुरासन, पाद-हस्तासन, पद्मासन (मुक्त और बद्ध], पवन मुक्तासन, पश्चिमोत्तान, वज्रासन, भुजंगासन, मत्स्येन्द्रासन, मयूरासन, शवासन, शयन पश्चिमोत्तान आसन, शलभासन, शशांगासन, सुप्त-वज्रासन, हलासनादि। इनसे मन अचंचल होता है।

मुद्रा—मुद्रायें स्वरूपतः आसनों के ही प्रकार-भेद हैं। शरीर के स्नायु तन्तु और मांसपेशियों को सबल बनाना आसनों का काम है और अन्तःस्रावी और बहिःस्रावी ग्रन्थियों को सक्रिय और सबल रखना मुद्राओं का काम है। मुद्रा भी बहुत प्रकार की हैं। गुरुजी ने मुझको लगभग पचास प्रकार की मुद्रायें सिखायी थीं। उनमें ये प्रधान हैं—अश्विनी मुद्रा, उड्डयन मुद्रा, उड्डयन-बन्ध मद्रा, विपरीत-करणी मुद्रा, मत्स्य मुद्रा, शीर्षासन मुद्रा (मस्तक मुद्रा,) महाबन्ध मुद्रा, महामुद्रा, मूलबन्ध मुद्रा, योग मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, सर्वांगासन मुद्रा और सहजशीर्षासन मुद्रा। मुद्राओं से शरीर-साधना के लिये उपयोगी बन जाता है।

कुम्भक योग—राजयोग के अनुसार प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। **हठयोग** में कुम्भक स्वतन्त्र क्रिया के रूप में ही गिना गया है। प्राण शक्ति को केवल्य लाभ के साधन में उपयोगी बनाना ही कुम्भकयोग है। प्राण शक्ति की वृद्धि और मन के नियन्त्रण का भी कुम्भक योग से सम्भव है। गुरुजी के उपदेश, निर्देश और नियन्त्रण में रहते हुए मैंने कुम्भक योग का अभ्यास किया था। प्राणायाम सुसिद्ध होने से शरीर रोगमुक्त रहता है। गुरु के पास रहकर नियमित रूप से प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करने से अतिद्रुत प्राणायाम का फल मिल जाता है। निःश्वसित वायु का स्वाभाविक परिमाण और प्रश्वसित वायु का भी स्वाभाविक परिमाण जानना आवश्यक है। भीतर गये हुए वायु को आबद्ध रखने का भी परिमाण साथ-साथ जानना जरूरी है। अन्यथा नितान्त अस्वाभाविक रूप से पूरक, रेचक या कुम्भक करने से प्राण-शक्ति की वृद्धि के स्थान में प्राण के नाश का ही भय रहता है। देह से

द्वादश अंगुलि तक श्वास जाय तो यह स्वाभाविक है। चलने के समय षोडश अंगुलि तक, भोजन के समय विंश अंगुलि तक, दौड़ने के समय चतुर्विंशति अंगुलि तक, निद्रा के समय ३० अंगुलि तक ही प्राणवायु की स्वाभाविक गति है। इसमें अस्वाभाविक गड़बड़ी होने से आयुक्षय होता है। प्रथम सिद्धार्थी का इस पर ध्यान रखना जरूरी है।

योगाभ्यास* के समय प्रातः स्नान, उपवास, अतिरिक्त शारीरिक परिश्रम, एक कालीन आहार और स्वल्पाहार यह योगियों के लिये निषिद्ध है। लेकिन ध्यान और समाधि सीखने के समय निषिद्ध नहीं है। शुद्धचेता और एकाहारी होकर कोई-कोई योगी प्रतिदिन केवल जल-मिश्रित दुग्ध का पान करने से भी बल प्राप्त करते हैं। मैं योग-शिक्षा के सुदीर्घ काल में दुग्धपान करके ही सबल और स्वस्थ रहा था। योगी के लिए सब प्रकार का नशा सर्वथा वर्जनीय है। नशाबाज़ योगियों ने तीन बार विभिन्न स्थानों में मुझको नशाबाज़ बनाने के लिये प्रयत्न भी किया था। लेकिन मैं इस पर बहुत ही कठोर हूं, मैंने उनकी संगत को ही छोड़ दिया था। योग-शिक्षार्थी और योगियों के लिये आमिष-आहार भी सम्पूर्णतया वर्जनीय है। गुरुजी ने मुझको दिनरात साथ-साथ रख कर ही हठ-योग की शिक्षा दी थी। पितृगृह से आने के बाद मेरा देह और मन गुरुओं के प्रभाव से योग-शिक्षा और योग-साधन के लिए सर्वथा उपयोगी बन गया था। इसलिए उन के प्रति मैं चिर-ऋणी हूं। गुरुजी हर रोज मेरे श्वास की गति की भी जांच करते थे।

मन्त्र-योग—गुरुजी ने मुझको मंत्रयोग की शिक्षा दी थी। प्रणवादि मन्त्रों के नियमित और दीर्घ काल तक जप करने से मन लीन हो जाता है। मन्त्र-योग का यह ही उद्देश्य है। इससे भी मोक्ष लाभ होता है। भृगु, कश्यपादि ऋषि लोग इस मंत्रयोग के उपदेष्टा हैं। मैं बहुत दिन तक हर रोज दो बार छःहजार—छःहजार करके गायत्री मंत्र जप करके तब खाना खाता था।

लय-योग—वेदव्यासादि कई-एक ऋषि लय-योग के उपदेष्टा है। इनके कथन के अनुसार हमारे शरीरों में तीन मुख्य शक्तियाँ हैं--ऊर्ध्वशक्ति, मध्य-शक्ति और अधः शक्ति। ऊर्ध्वशक्ति के निपातन से और अधः शक्ति के संकोचन से मध्य शक्ति का उदबोधन होता है। इस प्रक्रिया से सात्विक

*कुम्भक योगाभ्यास के समय में—तात्पर्य है। सं.

आनन्द का प्रवाह उपलब्धि में आता है। इस उपलब्धि के लिए शरीर के इन चक्रों में ध्यान करना होता है—स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठ चक्र, तालुचक्र, भ्रूः चक्र, ब्रह्मरन्ध्र चक्र और अन्तिम ब्रह्म चक्र। इनमें ध्यान से आनन्द मिलने लगता है। इसके अभ्यास से भी मोक्षलाभ होता है। गुरुजी ने मुझे इस लय योग के बारे में साधन-विषयक बहुत गुप्त रहस्य का भी उपदेश दिया था मुझे स्नायविक शक्ति-केन्द्रों का पता लग गया था।

लेकिन मुझे केवल राज-योग पर ही पूर्ण विश्वास था।* दूसरे योगों को मैंने आनुषंगिक योग ही समझ लिया था। मंत्र योग, लय योग, राज योग और हठ योग—इन चार प्रकार के योग-पथों का भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न महायोगी लोगों ने आविष्कार किया था। हर प्रकार के योग में ही लय का सम्बन्ध है। लय के बिना योग होता ही नहीं। किसका लय ? चित्त का लय। पंतजलि ने चित्त के लय पर बहुत ही जोर दिया है। योग का सुफल और अलौकिक क्षमता निःसन्दिग्ध है। योगी लोग बहुज्ञ, दीर्घजीवी और सदा प्रसन्नचित्त होते हैं। निराहार से या श्वास-रोध से भी इनकी जीवन-रक्षा होती है यह सब बातें नितान्त अविश्वसनीय नहीं हैं। हठ-योग की सभी क्रियाओं को गुरुजी ने मुझे सिखाया था।

राजयोग—हठयोग-शिक्षा के बाद मेरे गुरु स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने मुझको राजयोग की शिक्षा के लिये स्वामी शिवानन्द गिरि को समर्पित कर दिया। मैंने सफलता के साथ उनसे राजयोग का पाठ आरम्भ कर दिया था।

राजयोग आठ अंगों★ में विभक्त है—यम,नियम, आसन, प्राणायाम,

---

* यह (हठ योग] बाजीगर का खेल है। इन से निवृत्ति पाकर कब योग कर सकते होंगे। यहहठ योग वाले ही जानें। इन कामों से बीमारियां पैदा होती हैं।—(उपदेश मञ्जरी ११ व्याख्यान)

★ यम-नियमा-सन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावंगानि (यो० २-२९)। अर्थात् एक यम, दूसरा नियम तीसरा आसन, चौथा प्राणायाम, पाँचवाँ प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवाँ ध्यान, आठवाँ समाधि, ये सब उपासना-योग के अंग कहाते हैं। (ऋ. वे. भा. भू. उपा०)

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। ऋषि पतंजलि ने इसके पाठों को चार भागों में विभक्त किया है—समाधिपाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद। इन सबका परिचय मुझे पहले से ही था।

इससे पहिले मैंने काशी में बड़ौदा से आकर विभिन्न दर्शन शास्त्र और विभिन्न सिद्धान्तों को विना ग्रन्थों के मौखिक रूप से सुनकर ही और आलोचना-शंका-समाधानों के द्वारा ही कुछ-न-कुछ समझ लिया था। अब मेरे गुरु ने पतञ्जलि के राजयोग और उसके साथ व्यास भाष्य, वाचस्पति की तत्व विशारदी टीका, भोज की राजमार्तण्डवृत्ति, विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक भाष्य आदि ग्रन्थों के सारांश को समझा दिया। मैंने विशेष रूप से उनसे कैवल्य, मोक्ष या मुक्ति लाभ के लिये ही उपदेश माँगा था। उन्होंने तदनुसार मुझको योगदर्शन के क्रियात्मक रूप की ही शिक्षा देनी आरम्भ कर दी थी।

आहार—सर्वप्रथम उन्होंने आहार के सम्बन्ध में उपदेश दिया और मेरे लिये परिमित हितकर और पवित्र वस्तुओं के आहार के लिये प्रबन्ध करवा दिया था। साथ साथ योग के लिये निर्जन कुटिया में रहने का प्रबन्ध भी कर दिया था। गुरु जी मेरे ऊपर तीव्र दृष्टि रखने लगे। विन्दुमात्र भ्रम और प्रमाद होने से वे उसका संशोधन करवा देते थे। अब से उन्होंने मेरे पथ्य के लिए केवल दुग्ध का प्रबन्ध करवा दिया और अन्य सब स्वल्पाहार बन्द करवा दिये। मैंने अति शीघ्र उत्साहपूर्वक इस को सहन कर लिया और वर्षों के लिए दुग्धपान मात्र को अपने अभ्यास के अन्दर डाल लिया था और इस पर ही जीवन-धारण किया था। गुरुजी हर सप्ताह श्वास-प्रश्वास के अनुसार शरीर की परीक्षा लेते थे।

योग विद्या की शिक्षा के बारे में गुरु जी का द्वितीय उपदेश था :—

स्थान और आसन—योग साधना के लिये कुटीर, कानन, पर्वत-गुफा वा किसी मठ का ही आश्रय लेना होगा यह बात नहीं है। ये सब स्थान अनुकूल हैं। इसमें सन्देह नहीं है लेकिन मन के अनुकूल कोई निरुपद्रव स्थान मिलने से ही वहाँ योगाभ्यास किया जा सकता है। कुशा के ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर कपड़ा रखकर उसके ऊपर सिद्धासन या पद्मासन लगाकर अभ्यास करना चाहिये। केवल मिट्टी पर कभी योगासन नहीं लगाना चाहिए; क्योंकि पृथिवी माता हर क्षण शरीर की शक्ति को खींच

रही है। आजतक भी आसन के बारे में मेरा यह नियम चालू है। ग्रीवा, मस्तक और मेरुदण्ड को समान रूप से सरल रखके बैठे हुए धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास प्रतिदिन नियमित समय पर ही होना चाहिए।

अष्टांग योग के पहिले पाँच अंग—१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार—बहिरंग साधना हैं और बाकी तीन अंग—६. धारणा ७. ध्यान ८. समाधि अन्तरंग साधना हैं। बहिरंग साधना के द्वारा चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त जितना निर्मल होगा, सिद्धि उतनी ही शीघ्र होगी। मलिन चित्त से ध्यान होना ही असम्भव है, चित्त में रजोमल रहने से चित्त चंचल होता है और तमोमल से ध्यान के समय निद्रा आ जाती है।

प्रथम धारणा है। धारणा अधिक समय स्थायी होने से उसका नाम ध्यान है और ध्यान के गाढ़ और गम्भीर होने से उसका नाम समाधि है।

यम पाँच हैं—१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह। नियम भी पाँच हैं—१. शौच २. संतोष ३. तपः ४. स्वाध्याय ५. ईश्वर-प्रणिधान। ये दोनों यम और नियम मानवधर्म की भित्ति हैं। सब ही के लिये इन दोनों की आवश्यकता है। जब पाँच यम जाति, काल, स्थान के उपलक्ष्य से आहत और विच्छिन्न नहीं होते हैं तब उसका नाम सार्वभौम महाव्रत है।

शारीरिक और मानसिक शौच यानी पवित्रता के साधन से शरीर स्वस्थ होता है और चित्त प्रसन्न होता है। योगसाधन के लिये यह भी आवश्यक हैं। मैं गुरुजी के उपदेशानुसार इनके अभ्यास के लिए तत्पर हो गया था।

क्रिया योग ❀

महर्षि पतञ्जलि के राजयोग के अनुसार क्रियायोग का विधान है। गुरु जी ने मुझे इसके रहस्य के विषय में उपदेश दिया था। क्रियायोग तीन हैं—१. तप २. स्वाध्याय और ३. ईश्वर प्रणिधान। इनके अभ्यास से हमारे

❀ तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो. २-१) ॥ योगी पुरुष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानादि योग के साधनों (क्रियाओं) से धारणा ध्यानरूपी संयम के बल को प्राप्त होते हैं॥ (ऋषिका यजुर्वेद भाष्य — अ० १७ मं० ७१) ॥

तीनों शरीरों की शुद्धि होती है। हमारे शरीर तीन हैं—(१) स्थूल शरीर (२) सूक्ष्म शरीर, और (३)कारण शरीर। तप के द्वारा हमारे शरीर व इन्द्रियों की परिशुद्धि होती है। स्वाध्याय के द्वारा हमारे मन, अहंकार और बुद्धि की परिशुद्धि होती है और ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा चित्तशुद्धि होती है यानी चित्त के रजस्तमोमल विदीर्ण हो जाते हैं। मैं प्राणपण से इस शुद्धि-कार्य में लग गया था। गुरुजी ने कहा—हम लोगों ने जिन उपकरणों के साथ जन्म लिया है उन सबकी परिशुद्धि न होने से सम्यक् ज्ञान या परोक्ष अनुभूति नहीं होगी। प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलेगी। इस साधना में जिनकी चेष्टा जितनी प्रबल होगी उनकी सफलता उतनी ही द्रुतगति से होगी। इस साधना का नाम ही क्रिया योग है।

हमारे तीन शरीरों में पाँच कोष हैं। (१) अन्न द्वारा निर्मित स्थूल शरीर अन्नमय कोष है। प्राण मन बुद्धि द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर में क्रमानुसार (२) प्राणमय (३) मनोमय (४) विज्ञानमय कोष हैं। (५) अस्मिता द्वारा निर्मित कारण देह का नाम ही आनन्दमय कोष है। जीवात्मा इन पाँच कोषों के आवरण से आबद्ध है। पंचकोषों से मुक्ति ही जीवात्मा की मुक्ति है। सर्वोपरि अन्नमय कोष है। उसके अन्दर प्राणमय और उसके अन्दर मनोमय कोष है। उसके अन्दर विज्ञानमय कोष है और उसके अन्दर आनन्दमय कोष है।

तप—स्थूल शरीर के संस्कार के लिये तप, सूक्ष्म शरीर के संस्कार के लिये स्वाध्याय और कारण शरीर के संस्कार के लिये ईश्वर-प्रणिधान का प्रयोजन है★। केवल धर्मानुष्ठान के लिये ही इसकी आवश्यकता नहीं है। सभी कार्यों में सब को ही इस संस्कार या तप का प्रयोजन है, क्योंकि इस संस्कार पर ही सबके शरीर और मन का स्वास्थ्य निर्भर करता है। क्रियायोग ही इस संस्कार कार्य का एकमात्र उपाय है। इसके अभाव के कारण मनुष्य संस्कारहीन शरीर और मन के द्वारा पाप कार्य करते हैं। असंस्कृत जीवन अतीव दुर्बल और पापिष्ठ है। तप ही संयम, कठोरता, सहिष्णुता और दृढ़ संकल्प है, इसी के द्वारा स्थूल देह शुद्ध होता है।

★अत्युग्रतपश्चरण से इस संसार में मोक्ष पद को सिद्ध कर और करा सकते हैं।—(सत्यार्थ प्रकाश-५ समुल्लास)

—शान्त विद्वान् लोग वन में तप, धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं—(वहीं)

स्वाध्याय—के द्वारा सूक्ष्म देह संस्कृत या शुद्ध होता है। इससे प्राण, मन और बुद्धि की मलिनता दूर होती है। वेदादि मोक्षशास्त्र पाठ, गायत्री प्रणवादि मन्त्रों का नियमित पाठ ही स्वाध्याय है। प्राण, मन और बुद्धि की गति साधारणतः बाहर की तरफ है। इनकी आसक्ति बाहर के विषयों में अधिक है। इस विषयासक्ति का नाम ही मलिनता है। इसलिये इनकी गति को अन्तर्मुखी करने की आवश्यकता है। स्वाध्याय ही इस कार्य में एकमात्र उपाय है। चित्त को अन्तर्मुखी करने के लिए स्वाध्याय-रूप क्रियायोग की परम आवश्यकता है।

ईश्वर-प्रणिधान★के द्वारा सांसारिक बन्धन से चित्त मुक्त होकर परमात्मा की तरफ धावित होता है।❀परमात्मा में सर्वकर्मों के फल अर्पण करके निष्काम भाव से कर्म करना ही ईश्वरप्रणिधान है। इससे चित्त के संस्कार-समूह का नाश हो जाता है। असंख्य जीवनों के असंख्य कर्म संस्कार चित्त में जमा रहते हैं। हमारे विभिन्न शरीरों में आबद्ध होकर सुख और दुःख के भोग इसी से होते हैं। ईश्वरप्रणिधान के द्वारा हमारे संचित कर्म-संस्कार दुर्बलता और क्षय को प्राप्त होते हैं। साधना के लिए ईश्वरप्रणिधान जरूरी है। इसके द्वारा साधक कर्म-संस्कारों की मलिनता से मुक्त हो जाते हैं और परमानन्द-प्राप्ति के लिए परमात्मा की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं।

क्रिया योग के द्वारा चित्त में किसी नई शक्ति की सृष्टि नहीं होती है। हमारे अन्दर असीम शक्ति छिपी हुई रहती है। क्रियायोग से इसका उद्‌बोधन होता है और आत्मविश्वास की सृष्टि होती है। जिस शक्ति से हम लोग शुभ कार्य करते हैं उसी शक्ति से ही हम लोग अशुभ कार्य भी

★ ईश्वर प्रणिधान—'जो मेरे प्रेम और सत्याचरण भाव से शरण लेता है, उस की अन्तर्यामी रूप से मैं अविद्या का विनाश कर, उसके आत्मा का प्रकाश करके, शुभ गुण, कर्म, स्वभाव वाला कर, सत्य स्वरूप का आवरण स्थिर कर, शुद्ध योग से हुए ज्ञान को दे, दुःखों से अलग करके मोक्ष को प्राप्त कराता हूं ''(यजुर्वेद भाष्य)

❀सर्व क्रियाणां परम गुरावर्पणं तत्फलसन्न्यासो वा—सब क्रियाओं को परम गुरु परमात्मा की उपलब्धि निमित्त करना या कर्मों के फलों को छोड़ देना—निष्काम होना ईश्वरप्रणिधान है—(योग व्यास भाष्य २-१)

करते हैं। साधारणतः मनुष्य दिन-दिन अशुभ कार्यों के द्वारा अपने को अधः पतित करता है। इन अशुभ कार्यों के संस्कार विनष्ट करने के लिए क्रिया योग जरूरी है। गुरु जी ने मुझको क्रिया-योग के प्रति प्रेरणा दी थी आज भी मैं उसका अनुसरण कर रहा हूं।

(४)

नाड़ी-शुद्धि

गुरु जी ने मुझे कहा कि राजयोग में भी नाड़ी-शुद्धि का प्रयोजन है। मेरुदण्ड के अन्दर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी हैं। इनकी शुद्धि ही नाड़ीशुद्धि है। प्राणायाम करने से पहले नाड़ी-शुद्धि कर लेनी चाहिए। आसन में यथाविधि बैठकर पहले दाहिनी नासा की श्वास-क्रिया रोक के बायें नासा से यथा-शक्ति वायु को खींच लेना चाहिये। वायु को जितना अधिक खींचोगे उतना ही अच्छा है। लेकिन ज्यादा जबरदस्ती खींचने से बीमार पड़ जाओगे। साथ २ बायीं नासा की श्वासक्रिया को बन्द करके दाहिनी नासा से यथाशक्ति वायु को छोड़ते रहना। इसी का नाम पूरक के बाद रेचक है। पूरक करके साथ २ ही रेचक करना, कुम्भक नहीं करना अर्थात् भीतर बन्द करके नहीं रखना। रेचक पूरा होने के बाद ही दाहिने नासा के द्वारा पूरक करना और बायें नासा से रेचक करना। इसी प्रकार हर रोज आराम से जब तक कर सकते हो, करो। पूरक और रेचक के समय वायु को धीरे-धीरे खींचना और छोड़ना। नासा के सम्मुख रुई रखने से भी उसका संचालन नहीं हो। वायु को झट एक ही दफा वेग के साथ नहीं खींचना और न ही छोड़ना। खींचने के समय और छोड़ने के समय धीरे-धीरे ताल से खींचना और छोड़ना। इस नाड़ी-शुद्धि के समय दूसरे किसी विषय की चिन्ता नहीं करना। श्वास और प्रश्वास में ही मन को संलग्न रखना और चित्त को आबद्ध रखना। इस नाड़ी-शुद्धि के अभ्यास को बहुत दिन तक करने से आसन-जय होगा अर्थात् एक आसन में बहुत देर तक आराम से रह सकोगे। तमो-भाव नष्ट हो जायेगा अर्थात् आलस्य और तन्द्रा नहीं सतायेंगी। इससे शरीर लघु होगा, मन में आनन्द आयेगा, चित्त प्रसन्न रहेगा, उक्त विषय पर चिन्ता और धारणा की शक्ति बढ़ जायेगी। इससे फेफड़े में बल आयेगा और फेफड़े में प्राणायाम के लायक शक्ति आ जायेगा।

नाड़ी-शुद्धि के समय इन विषयों पर ध्यान रखना जरूरी है। अन्यथा

कठिन रोगों के शिकार बन जाओगे। इन नियमों का लंघन करने से पीछे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वह नियम ये हैं—

१. पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य रक्षित हो,

२. साधना का अभ्यास एकान्त में हो,

३. साधना का घर वायु-संचालन युक्त हो,साफ-सुथरा हो,

४ आहार सात्विक और परिमित हो,

५ साधना का घर एकान्त और निर्जन हो,

६. देह में कपड़े कस के पहने हुए नहीं हों, ढीले हों,

७. बैठने का आसन ठीक हो,

८. नासारन्ध्रों से वायु को धीरे-धीरे खींचना और छोड़ना हो,

९. नासा-रन्ध्रों से वायु खींचना और छोड़ना ताल के साथ हो,

१०. मन की एकाग्रता श्वास-प्रश्वास पर ही रहे,

११. मन में दूसरी चिन्ता न रहे,

१२. उदर में दूषित मल या वायु जमा न रहे,

१३. ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति नाडी शुद्धि की प्रचेष्टा न करें अन्यथा विविध रोगों से आक्रान्त हो जायेंगे।

१४. कुम्भक के अभ्यास के लिए इससे पूर्व ही आसन को स्थिर रखना, मन को स्थिर करना और नाड़ी-शुद्धि का अभ्यास जरूरी है।

राजयोग का प्राणायाम

राजयोग के अनुसार भी प्राणायाम तीन प्रकार के हैं★—बाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति।

१. ❀प्राण वायु को प्रश्वास के साथ बाहर धारण करके रखना बाह्यवृत्तिक प्राणायाम है।

★बाह्याभ्यन्तर स्तम्भ वृत्तिर्देश काल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः। (यो. २-५०)

❀व्यास भाष्य—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः॥ ऋषि-भाष्य—जब भीतर से श्वास को बाहर निकाले तब उस को बाहर ही रोकदे।

२. प्राण-वायु को श्वास के साथ भीतर धारण करके रखना ही आभ्यन्तर वृत्तिक* प्राणायाम है।

इन दोनों प्राणायामों को नाड़ी-शुद्धि अच्छे रूप से होने के बाद ही करना चाहिए और इन प्राणायामों को अच्छे रूप से करने के बाद ही स्तम्भ वृत्तिक प्राणायाम करना चाहिये।

३. श्वासप्रश्वास को रोक कर कुछ धीरे २ पूरक और कुछ रेचक के साथ **फेफड़े के कार्य को रोकने से स्तम्भ★वृत्ति** हो जायेगा। स्तम्भक वृत्तिक प्राणायाम का अभ्यास धीरे २ होना चाहिये। गुरु जी अपने अत्यन्त समीप बिठा कर मुझको सर्व प्रकार की प्राणायाम-शिक्षा देते थे।

प्राणायाम-परिदर्शन--बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ इन तीन प्राणायाम वृत्तियों को ध्यान में रख कर इनकी स्थिति को क्रमशः दीर्घ से सूक्ष्म की तरफ लेजाना और इसके कौशल को स्थान (देश), काल और संख्या के अनुसार उत्कर्ष की तरफ ले जाना—इसी का नाम प्राणायाम-परिदर्शन है।

देश(स्थान)-परिदर्शन—देश दो प्रकार के हैं बाह्य देश और आभ्यन्तर देश। बाह्य देश का दूसरा नाम आधिभौतिक देश और आभ्यन्तर देश का दूसरा नाम आध्यात्मिक देश है। स्वाभाविक प्रश्वास के समय प्रश्वास-वायु नासिका से करीब १२ अंगुली तक बाहर जाता है। नाड़ी-शुद्धि के अभ्यास से प्रश्वास वायु क्रमशः १२ अंगुली से ११, १०, ९, ८ और इसी रूप से अन्त में नासिका से बाहर आयेगा ही नहीं। नासिका के अन्दर ही प्रश्वास वायु समाप्त हो जायगा। इसी रूप से प्रश्वास में वायु के प्रति दृष्टि रखने का नाम बाह्यदेश परिदर्शन है। फिर श्वास लेने के समय जब श्वास वायु हमारे वक्षःस्थल की तरफ आता है उस पर ध्यान रखने से और शेष करने से उसी का नाम आध्यात्मिक परिदर्शन है।

---

*यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः=जब श्वास बाहर से भीतर को आवे तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे।

★तृतीयः स्तम्भवृत्तिः यत्रोभयाभावः=तीसरा स्तम्भ वृत्ति है,किन प्राण को बाहर निकाले न बाहर से भीतर ले जाये। किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उस को जहाँ का तहाँ ज्यों त्यों एक दम रोक दे। —(ऋ.भा.भू. उपासना०)

काल-परिदर्शन—प्रणव मन्त्र या गायत्री मन्त्र का जप करते हुए जो काल का परिमाण हिसाब में रखा जाता है उसी का नाम काल-परिदर्शन है। पूरक में ४ वार, कुम्भक में १६ वार और रेचक में ८ वार मन्त्र जप करना या पूरक में ६ वार, कुम्भक में २४ वार और रेचक में १२ वार मन्त्र जप करना। इसका अनुपात है १, ४, २। साधक अपनी शक्ति के अनुसार जप करें। जप पूरक में जितने वार होगा, कुम्भक में उसके चार गुणा होगा, और रेचक में उसका द्विगुणा जप होगा। इसी का नाम काल-परिदर्शन है।

संख्या-परिदर्शन—(ह०ले०४५५) यह काल-परिदर्शन के ही अनुरूप है। इसमें जप की संख्या नहीं रखनी है। इसमें श्वास-प्रश्वास की संख्या रखनी है।

गुरुजी ने मुझको सावधान कर दिया था कि प्राणायाम का अभ्यास बहुत ही सावधानी से और धीरे-धीरे करना चाहिए। सद्गुरु के उपदेश के अनुसार इसका अभ्यास होना चाहिए, जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। यथाशक्ति धीरे-धीरे पूरक, कुम्भक और रेचक करना और धीरे-धीरे इनकी संख्या और काल को बढ़ाना। इस रूप से धीरे-धीरे दीर्घ काल के अन्दर अभ्यास करने से जो प्राणायाम की सिद्धि होती है उसका नाम दीर्घ-प्राणायाम है। प्राणायाम में जब क्रमशः श्वास-प्रश्वास बाहर आता ही नहीं, नासिका के अन्दर ही रहता है और कुम्भक❀ करने में अधिक नष्ट नहीं होता है—तब उसका नाम सूक्ष्म प्राणायाम है।

विषयाक्षेपी प्राणायाम★

देश, काल और संख्या के प्रति दृष्टि रख कर बहुत दिन प्राणायाम

❀ श्वास गति का विच्छेद करने में—

★बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः (यो०२-५१)॥ चौथा यह है—कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ रोकता रहे। और जब बाहर से भीतर आवे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे। इस को बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी कहते हैं। (भा-भू) उपासना चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी'—अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले। और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाये। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध किया करें। तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं॥ (सत्यार्थ प्रकाश ३, स.)

करते-करते जब साधक अभ्यस्त हो जाते हैं तब देश, काल और संख्या के प्रति दृष्टि न रखने से भी प्राणायाम सुचारु रूप से साधित होता है। इसी का नाम विषयाक्षेपी प्राणायाम है।

प्राणायाम से लाभ—गुरुदेव ने प्राणायाम-शिक्षा के प्रारम्भ में ही प्राणायाम की उपकारिता को वर्णित किया था। तमो गुण के आधिक्य के कारण सत्व गुण के प्रकाश और रजो गुण की कर्मशीलता पर आवरण आ जाता है। प्राणायाम के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों का जाड्य और आलस्य छुट जाता है। तमो गुण का कार्य तन्द्रा और निद्रालुता भी नष्ट हो जाती हैं। स्वल्प निद्रा के कारण तब कष्ट नहीं होता है। देह कर्मपटु होता है, मन मोह-शून्य होता है और बुद्धि स्वच्छ होती है। विचार-शक्ति और विवेक-शक्ति की वृद्धि होती है, विवेक शक्ति की वृद्धि से तत्त्व-ज्ञान और सूक्ष्म दर्शन का उदय होता है, मिथ्या और विषम ज्ञान का लोप होता है और शुद्ध ज्ञान का उदय होता है।

चित्त की निर्मलता❀

स्वर्णादि धातुओं में मल या खोट मिश्रित रहने से उसकी उज्ज्वल आभा आवृत हो जाती है और देखने में मलिन लगती है और उसको अग्नि में दग्ध करने से मल दग्ध हो जाता है और सुवर्णादि धातुओं की स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकाशित होती है। ठीक इसी प्रकार हमारा विवेक मोह के आवरण से आवृत होकर आभाशून्य हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा मोह का आवरण नष्ट हो जाता है। प्राणायाम से हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त की मलिनता और अशुद्धि भी कट जाती है और विशुद्धि के भाव का उदय होता है। स्वाभाविक स्थिति में हमारी इन्द्रियों में मलिनता रहती है इसलिए ये इन्द्रियाँ दुर्बल हैं। यह मलिनता कट जाने पर ये प्रबल हो जाती हैं। और इनको प्रकृति के सूक्ष्म उपादान दर्शन करने की शक्ति मिलती है। तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि

❀ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ (यो २-५२) जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ (—सत्यार्थ प्रकाश ३, समुल्लास)

के तन्मात्रादि दर्शन करने की शक्ति भी मिलती है। दूर दर्शन और दूर श्रवणादि की शक्ति भी उत्पन्न होती है। जब तक मलिनता रहेगी तब तक दूरदर्शनादि अतीन्द्रिय शक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। प्राणायाम के द्वारा यह मलिनता क्षीण हो जाती है और सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन होता है। गुरुदेव की कृपा से मुझे इसका फल प्राप्त हुआ था।

गति-विच्छेद

नासिका के द्वारा श्वास को भीतर लेने का नाम "पूरक" और उसको छोड़ने का नाम "रेचक" है। पूरक के बाद रेचक न करना या रेचक के बाद पूरक न करना, इसका नाम "गति-विच्छेद"* है। गति-विच्छेद में श्वास-प्रश्वास बन्द किया जाता है। एक का नाम "पूरकान्तक कुम्भक" और दूसरे का नाम "रेचकान्तक कुम्भक" है। श्वास-प्रश्वास का गति-विच्छेद बाहर होता है और चित्त का गति-विच्छेद भीतर होता है। चित्त सर्वदा चंचल है। चित्त की चंचलता का नाम ही चित्त की गति है। श्वास-प्रश्वास स्थिर होने से प्राणशक्ति का गति-विच्छेद होता है और चित्त स्थिर होने से चित्त का गति-विच्छेद होता है। जिस समय कुम्भक होगा ठीक उसी समय भीतर चित्त को भी स्थिर रखना है। प्राण-शक्ति ही चित्त को चंचल करती है। चित्त को स्थिर करना और प्राणशक्ति को स्थिर करना एक ही बात है। बाहर कुम्भक के द्वारा प्राणशक्ति को स्थिर किया जाता है और भीतर चित्त को स्थिर करके प्राणशक्ति को स्थिर किया जाता है। ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर रखना या चित्त को बिलकुल शून्यवत् रखना जरूरी है। कुम्भक के समय अगर चित्त में चंचलता रहे अर्थात् चित्त चारों तरफ घूमता-फिरता रहे तो विविध चिन्ता आकर चित्त पर आक्रमण करती हैं। इसलिए इससे सुफल के बदले कुफल ही होगा और इससे अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए बाहर जैसे कुम्भक करना ऐसे ही भीतर भी चित्त को पूर्णतया स्थिर रखना है। तब ही योगांग प्राणायाम हो जायगा। प्राणशक्ति को दोनों तरफ से ही रोकना—गतिहीन करना पड़ेगा। गुरुदेव के निर्देशानुसार साधन से मुझे सुफल मिला।

---

* तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोः गति-विच्छेदः प्राणायामः॥ (यो० २-४९)॥—उन दोनों श्वास-प्रश्वास के जाने-आने को रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उसके रोकने को [अर्थात् चित्त के रोकने को] प्राणायाम कहते हैं। (ऋ० भा० भू० उपा०)

इसलिये पहले आसन-स्थिर करके शरीर-स्थिर करने का और ध्यान-अभ्यास करके मन स्थिर करने का नियम है। शरीर को और मन को स्थिर करके तब कुम्भक अभ्यास करने का नियम है।(ह.ले. ५१)शरीर और मन को स्थिर न करके अगर कुम्भक किया जाय तो अनिष्ट होता है। मन की चंचलता में कभी कुम्भक नहीं करना चाहिये। बहुत आदमी इस विषय में बहुत ही भूल करते हैं। वे लोग समझते हैं कि किसी उपाय से बहुत समय तक कुम्भक करके रहने से ही सर्वसिद्धि मिल जाएगी। लेकिन चित्त स्थिर करने के बिना कुम्भक करके बहुतों को विपरीत फल ही मिलता है।

(५)

यम नियमों की साधना

पाँच यम और पाँच नियमों को गुरुजी ने मनुष्य धर्म की नींव बताकर वर्णन किया था। फिर उन्होंने यम और नियमों को तपस्याओं के अंगी-भूत कह कर उनका वर्णन किया था। यम और नियम के साधन से मन की स्वेच्छाचारिता की निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति होती है। इनकी साधनाओं की बाधायें भी बहुत हैं। बाधाओं के निवारणार्थ उपाय भी बहुत हैं। यम-साधना इस प्रकार की है—

(१) **अहिंसा-साधना**—मन-वचन-कर्म द्वारा किसी को हानि नहीं पहुँचाना और किसी के प्रति द्रोह-भाव न रखना ही अहिंसा है।* सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अद्रोह अहिंसा के सहायक हैं। मैत्री (सुखी के प्रति) करुणा (दुःखी के प्रति), मुदिता (पुण्यवान् के प्रति) और उपेक्षा (पापी के प्रति)★ की साधना से अहिंसा-साधना की उन्नति होती है। अहिंसा-साधना करने में स्वार्थ त्याग की आवश्यकता है। दूसरे के शरीर के मांस को खाकर अपने शरीर की पुष्टि करने से अधिक हिंसा नहीं है। जो दूसरे के प्रति हिंसा करता है, दूसरे लोग भी उसकी हिंसा

---

* "तत्राहिंसा—सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।।यो. २-३० व्यासभाष्य

—सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्तना·····ऋ. भा. भू. उपा०)

★ मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयाणाँ भावनातश्चित्त प्रसादनम् ।। (यो० १-३३)।।—मैत्री सुखी जनों से मित्रता, करुणा=दुःखी जनों पर दया, मुदिता=पुण्यात्माओं से हर्षित होना, उपेक्षा दुष्टात्माओं में न प्रीति न वैर करना।—(सत्यार्थ प्रकाश ९ समु०)

करेंगे। उसको बन्धु नहीं मिलेगा। सब कोई उसके शत्रु बन जाते हैं। "अहिंसा परमोधर्मः"। अहिंसा पालन करके चित्त को शुद्ध करना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकार की है*—कृता, कारिता और अनुमोदिता। क्रोध, लोभ और मोह से हिंसा सम्पन्न होती है। हिंसा अनन्त दुःख और अज्ञानता का कारण है। हिंसा के इन दोषों को सोच कर हिंसा को त्याग देना चाहिये।

कृता-हिंसा—जिस हिंसा को आदमी खुद करता है। जैसे पशुवध, पक्षिवध, आदि।

कारिता हिंसा—खुद न करके जो हिंसा दूसरे के द्वारा करायी जाती है। जैसे अपने नौकरों के द्वारा पशुवध पक्षि-वध आदि।

अनुमोदिता हिंसा—दूसरे की हिंसा की प्रशंसा करना। जैसे कसाई-खाने या मन्दिर में पशुवध को देख प्रसन्नता प्रकट करना।

इन तीन प्रकार की हिंसाओं में प्रत्येक हिंसा भी तीन-तीन प्रकार की है क्रोधपूर्वक, लोभ पूर्वक, मोह पूर्वक। जैसे क्रोध से किसी का वध करना, धनैश्वर्य के लालच से किसी को जान से मार देना और पुण्य के मोह से मन्दिर में बकरी-भैंसों का बलिदान देना।

देखा जाता है कि कोई-कोई आदमी वृद्धावस्था में कठिन असाध्य रोग से आक्रान्त होकर छटपटाते हैं। ये लोग प्रतिक्षण मृत्यु को ही चाहते हैं। किन्तु इनके प्रति मृत्यु देवता को दया नहीं होती है। दीर्घकाल तक ये लोग असहनीय रोग-यन्त्रणाओं को सहन करके भी जीवित रहते हैं। इस जीवन में हो या पूर्व-जीवनों में हो, ये लोग घोरतर हिंसा-कार्य करके इस स्थिति को प्राप्त होते हैं। हिंसा का फलभोग जब तक पूरा नहीं होता तब तक इनकी मृत्यु नहीं होती।

अहिंसा प्रतिष्ठित होने से सब प्राणी योगी के प्रति वैरभाव को छोड़ देते हैं। व्याघ्रादि हिंस्र पशु भी उनके प्रति हिंसाभाव को छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में हरिण-शिशु और व्याघ्र-शिशु एक साथ

* वितर्का हिंसादयः कृत कारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोह पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःख ज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।यो० २ ३४

खेलते हैं। अहिंसा-साधना की सिद्धि के कारण योगी के आश्रम का वातावरण अहिंसामय हो जाता है।

(२) **सत्य-साधना**❀

मन वचन-आचरण से सत्य के पालन से ही सत्य-साधना होती है। सत्य प्रतिष्ठित होने से योगी वाक्-सिद्ध होते हैं। उनके वाक्य अमोघ होते हैं। सत्य-प्रतिष्ठ योगी अन्याय से शक्ति के बाहर व्यर्थ संकल्प भी नहीं करते हैं। उनके आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही सफल होते हैं अर्थात् जिस प्राणी को कर्म फलानुसार दुःख मिलेगा योगी के मुख से उसके प्रति अभिशाप ही निकलता है और जिस प्राणी को कर्म फलानुसार सुख मिलेगा योगी के मुख से उसके प्रति आशीर्वाद ही निकलता है। मिथ्या वाक्य भी अगर दूसरे के लिए हितकर हो तब वह मिथ्या वाक्य भी सत्य वाक्य बन जाता है। और सत्य वाक्य भी अगर दूसरे के लिए अहितकर होता है तो वह सत्य वाक्य भी मिथ्या बन जाता है। योगी आशीर्वाद से दूसरे को शुभ फल दे सकते हैं। योगी इच्छा करने से बीमारों की कठिन पीड़ा भी दूर कर सकते हैं। महापापी के अन्दर शुभ इच्छा के द्वारा पुण्य का संचार कर सकते हैं। योगी सर्वदा विचारपूर्वक दूसरे के लिए हितकर वाक्य ही बोलते हैं, अल्प वाक्य प्रयोग करते हैं और कभी-कभी मौन भी धारण करते हैं। सत्य प्रतिष्ठित योगी ज्यादा वाक्य नहीं बोलते हैं और वाचालता भी छोड़ देते हैं। सत्यस्वरूप परमात्मा के ध्यान में ही योगी अधिक समय बिताते हैं, सत्य धर्म के प्रचार में भी अपने जीवन को समर्पित करना चाहते हैं, ऐसे योगी का सब कोई विश्वास करते हैं।

(३) **अस्तेय साधना**★

लोभ के कारण दूसरे की किसी वस्तु को चोरी करके लेना "स्तेय" है,

---

❀ जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। (ऋ. भा. भू. उपासना०)

—तब (सत्याचरण के ठीक-ठीक सिद्ध होने पर) वह जो २ योग्य करता और करना चाहता है वे सब सफल हो जाते हैं।। (ऋ.भा.भू. उ०)

★मन-वचन-कर्म से चोरी का त्याग (स.प्र. ३स०) बिना आज्ञा छल-कपट, विश्वासघात व किसी-किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर पदार्थ का ग्रहण करना चोरी, और इस को छोड़ देना साहूकारी कहाती है। (स. प्र. ५. समु०)

और इसके विपरीत "अस्तेय" है। अधर्म से उपार्जित अर्थ से धर्मोपार्जन नहीं होता है। विना बताये दूसरे की वस्तु को ग्रहण करना भी 'स्तेय' है। जिस वस्तु में अधिकार नहीं है उस वस्तु को किसी उपाय से लेना भी 'स्तेय' है। इस रूप से पुरोहित या यजमान का एक-दूसरे को प्राप्ति के विषय में धोखा देने से दूसरे की नौकरी करते हुए नौकर का स्वामी के कार्य को ठीक रूप से न करने से व्यवसायी का व्यवसाय में धोखा देने से, चिकित्सक का रोगी को चिकित्सा कार्य में धोखा देने से, शिक्षक-छात्रों गुरु-शिष्यों में एक दूसरे को धोखा देने से भी स्तेय हो जाता है। इन सब में विपरीत—प्रतिकूल व्यवहार ही अस्तेय है। स्तेय का फल अविश्वास और भीति है और अस्तेय प्रतिष्ठित होने से प्रकृति के सब रत्न ही साधक के सम्मुख उपस्थित होते हैं।*काय, मनः, वाक्य से दूसरे के धन के अपहरण की मनोवृत्ति न रहने से जगदीश्वर साधक को सर्व आवश्यक वस्तु ही प्रदान करते हैं। अस्तेय प्रतिष्ठित होने से साधक को देख कर ही दाता दान करके अपने को धन्य समझते हैं। अस्तेय-साधक सब के विश्वासपात्र और प्रियपात्र बन जाते हैं। और स्तेय के द्वारा आदमी दूसरे के अविश्वासमय और घृणा के पात्र बन जाते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य-साधना

काम-भावना के साथ कुछ-कुछ स्मरण करना, बात करना, देखना, गुप्त-मंत्रणा करना, संकल्प करना, श्रवण करना, और व्यभिचार कर्म करना—यहसबके सब ब्रह्मचर्य-विरोधी हैं। इसके विपरीत शुद्ध भावसे और काम-वर्जित भाव से सब कुछ करना ही ब्रह्मचर्य है।★ ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से शारीरिक और मानसिक बल-लाभ होता है और धर्मभाव वर्द्धित

---

* अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नोपस्थानम् ॥ यो. २।३७ ॥ जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तो उस को सब उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं।—(ऋ.भा.भू-उपा०)

★ ब्रह्मचर्य—उपस्थेन्द्रिय का सदा नियमन (ऋ. भा. भू. उपा०) 'ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है·····ब्रह्मचर्य से वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है। एक शारीरिक दूसरा बुद्धि का उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है।—(वहीं)

होता है, सत्त्व, आयुः, यश, कीर्ति, उत्साह, उद्यम, उच्चाशा, त्याग, शान्ति और आनन्द की वृद्धि होती है। अन्यथा इन सब गुणों के विपरीत दुर्गुणों की वृद्धि से मनुष्यता का लोप और पशुत्व की वृद्धि होती है सब ही घृणा और अवमानना का व्यवहार करते हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने से साधक महाशक्तिशाली होते हैं। साधक के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की वृद्धि होती है। इन्द्रियों की तेजोवृद्धि होने से सूक्ष्म और अलौकिक विषयों का प्रत्यक्ष होता है। प्रकृष्टरूप से तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य-हीन मानवों के शरीर कमजोर और विभिन्न रोगों के गृह बन जाते हैं। इनके मन निस्तेज, उत्साह-हीन, उच्चाशाहीन और अकर्मण्य हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-हीनता से जीवन पशुओं के स्तर से भी नीचे उतर जाता है। व्यक्ति अर्द्धमृत और अन्त में विनष्ट ही हो जाता है।

(५) अपरिग्रह-साधना❀

केवल शरीरादि की रक्षा के लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है तदतिरिक्त वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह है। अधिक वस्तुओं की इच्छा अच्छी नहीं है। प्रयोजनातिरिक्त वस्तुओं के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। अधिक भोग्य वस्तु सम्मुख रहने से योगसिद्धि नहीं होती है। आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं का संचय करना महापाप है। स्तूपीकृत धन और योग्य वस्तु दूसरे अभाव-ग्रस्त व्यक्तियों को दे देना चाहिये। क्योंकि जगत् की सब वस्तु ही भगवान् की हैं। दूसरे को वंचित करके किसी वस्तु का भोग और अपव्यवहार महापाप है, अर्थ के तुम रक्षक हो, भक्षक नहीं हो. प्रभु के अर्थ को प्रभु के कार्यों में खर्च करो। जिसका अभाव है उसके अभाव को मिटा दो। तब अपरिग्रह-सिद्धि होगी। मुमुक्षु लोग प्रयोजनातिरिक्त विषयों को सर्वतोरूप से छोड़ देते हैं। इस से भोग्य वस्तुओं के मानसिक बन्धन से मुक्त होकर वे लोग चित्त को निर्मल बना लेते हैं। चित्त के निर्मल होने से उनके चित्त में पूर्व-पूर्व जीवन और भविष्य जन्मों का ज्ञान जागृत होता है।★

❀ अपरिग्रह-विषयाणामस्वीकरणम्=विषयों को न अपनाना-(वहीं)

★जब सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है तब मैं कौन हूं, कहाँ से आया हूं, और मुझ को क्या करना चाहिए इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है—(ऋ. भा. भू. उपासना०)

नियमों की साधना इस प्रकार है :—

शौच-साधना

शौच दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर शौच और बाह्य शौच।❀ शौच का तात्पर्य शुचिता है, पवित्रता है। बाह्य शौच से शरीर शुद्ध और स्वस्थ रहता है और आभ्यन्तर शौच से मन शुद्ध और स्वस्थ रहता है। मिट्टी और जल से बाह्य शौच साधित होता है और शुद्ध आहार और सत् चिन्ता और पवित्र मनोभाव ग्रहण करने से आभ्यन्तर शौच साधित होता है। पवित्र वस्त्रों के परिधान, सज्जनों के संग और सत् वातावरण में साधकों को रहना चाहिए। राजसिक और तामसिक आहार और वातावरण का परित्याग करना चाहिए। किसी प्रकार के उत्तेजक या मादक द्रव्य का सेवन नहीं करना चाहिए। अनेक साधु भ्रान्ति के कारण चित्त-स्थिर करने के नाम पर मादक द्रव्यों का व्यवहार करते हैं। इससे चित्त अपने वश में कभी नहीं रहता है। चित्त को अपने वश में रखना ही तो योग का उद्देश्य है। इसलिए मादक द्रव्य योगसाधन के लिए सम्पूर्ण विघ्नकर हैं। भूल से भी मादक द्रव्यों का व्यवहार नहीं होना चाहिए। (ह.ले.पृ.६०)

शौच साधन से★ मल मूत्र, स्वेद, श्लेष्मा से परिपूर्ण शरीर से आसक्ति धीरे-धीरे हट जाती है। शौच-साधन से शारीरिक मल के साथ मानसिक मल भी धीरे-धीरे विदूरित होते हैं। चित्त-मल दूर होने से मन भी शान्त होता है। मन में शान्ति न रहने से किसी कार्य में मन निविष्ट नहीं रह सकता। मन शान्त रहने से चित्त एकाग्र होता है। शुद्ध और एकाग्र चित्त होने से ही इन्द्रिय-जय सम्भव है। जितेन्द्रिय नहीं होने से चित्त धारणा, ध्यान और समाधि-लाभ की योग्यता प्राप्त नहीं करता। इन तीनों से ही आत्मदर्शन की योग्यता आती है।

❀ भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है और बाहर की पवित्रता जलादि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना, पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (ऋ० भा० भू० उपा०)

★ सत्त्वशुद्धिः—सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥२।४१ यो. ॥ शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा को देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है।

सन्तोष साधना

सन्तोष* से उत्कृष्ट सुख-लाभ होता है। तृष्णा-क्षय नहीं होने से सन्तोष-साधन नहीं होता है। सन्तोष परम धन है। लाखों रुपयों से भी इसको खरीद नहीं सकते हैं। सन्तोषी भिक्षुक जीर्ण वस्त्र पहनता हुआ, एक टुकड़ा रोटी खाता हुआ और भग्न कुटीर में रहता हुआ जिस शान्ति की उपलब्धि कर सकता है, राज-राजेश्वर केवल भोग-सुख में वेष्टित होता हुआ ऐसी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। सन्तोष, तृप्ति और आसक्ति-हीनता ही सन्तोष ला सकती है और सन्तोष ही शान्ति को ला सकता है। विषयासक्त धनी या गरीबों के लिए सन्तोष और सुख स्वप्नवत् हैं। विषयासक्ति सर्वसुख का कण्टक है। अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रहते हुए उत्कर्ष-लाभ के लिए कोशिश करनी चाहिए। पूर्व जीवन के संस्कार के अनुसार इह जीवन की स्थिति मिल गई है। पूर्व जीवनों में हमने जिनके उपकार किये हैं आज वे लोग हमारा उपकार कर रहे हैं। जिसको हमने प्रतारित किया है, वे लोग हमको प्रतारित कर रहे हैं। पूर्व जन्मों में जिसके ऋण को नहीं चुकाया आज उन्होंने ही ऋण आदाय के लिए हमारे घर में सम्बन्धी रूप से जन्म लिया है। मेरे पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल के अनुसार मुझको इस जन्म में सब कुछ मिल गया है। संस्कारानुयायी कर्मफल सुख या दुःख मुझको भोगना ही पड़ेगा। फल की कामना के साथ कर्म करने से सुख के या दुःख के संस्कार लेकर ही जन्म ग्रहण करूँगा। भोग रहने से तदनुसार देह और सुख-दुःख मिलेगा। प्राणपण से और यथाशक्ति कर्त्तव्यपालन करना और चित्त में सन्तोष रखना ही परम कल्याण है। सन्तोष महामूल्यवान् वस्तु है। जिनके अन्दर सन्तोष है उनको अभाव नहीं है। वे सर्वदा सुखी हैं। विषय-तृष्णा ही सन्तोष का परम शत्रु है। सन्तोष की परम यत्न से रक्षा करनी चाहिए।

तपः साधना★

भोगवृत्ति ही शरीर और इन्द्रियों में मलिनता लाती है।

* लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे। (स० प्र० ३ समु०)

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः—२।४२यो०—सन्तोष से जो सुख मिलता है वह सर्वोत्तम है, उसी को मोक्ष-सुख कहते हैं।—(ऋ. भा. भू उ.)

★तप सदा सुख-दुःखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करना कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥(२।४३ यो०) (स०प्र०७समु०)तप से शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि के क्षय में दृढ़ होके सदा रोग रहित रहती हैं।(वहीं)

वैराग्य-वृत्ति ही इस की शुद्धि करती है। बाहर की दृष्टि से सबके शरीर और इन्द्रिय एक से मालूम पड़ते हैं। लेकिन इसके अन्दर सात्त्विक, राजसिक, तामसिक संस्कार छिपे हुए हैं। इन संस्कारों के अधीन होकर हम लोग मन, वचन, देह से कार्य करते हैं। तामसिक प्रकृति को राजसिक बनाना और राजसिक प्रकृति को सात्त्विक बनाना ही तपः है। सात्त्विक संस्कार-युक्त आदमी देव-प्रकृति के होते हैं। राजसिक प्रकृति के आदमी मनुष्य-प्रकृति के होते हैं और तामसिक प्रकृति के आदमी पशु-प्रकृति के होते हैं। पशु-प्रकृति के मनुष्यों को मनुष्य-प्रकृति का होना और मनुष्य-प्रकृति को देव-प्रकृति का होना ही परम तप है। आत्म-शुद्धि के लिए तप जरूरी है। सबसे अच्छा तप मन और ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह करना ही है। इन्द्रियों का स्वेच्छाचार निवारण करना, शीत-ग्रीष्म, क्षुधा-तृष्णा सुख-दुःख, सम्पद्-विपद्, जय-पराजय आदि को सहन करना तितिक्षा है। यह तितिक्षा परम तप है। भोग-विलास, आलस्य-तन्द्रा सुख-स्वाच्छन्द्य के प्रभाव से अपने को मुक्त रखना परम तप है और असंयत इन्द्रियों को संयत बनाना परमोत्कृष्ट तप है। षड् रिपुओं को वश में रखना सर्वोत्कृष्ट तप है। इनकी साधना से मानव देवत्व का लाभ करते हैं।

स्वाध्याय-साधना

नियमित रूप से वेदाध्ययन, मोक्ष-शास्त्रों का पाठ और आत्मानुसन्धान करने के लिए गुरुजी का कठोर आदेश था। उन्होंने कहा था कि दो-एक रोज खाना नहीं खाने से ज्यादा हानि नहीं होगी लेकिन जिस स्वाध्याय❀के द्वारा आत्मपुष्टि होती है उसको एक रोज किसी कारणवश बन्द रखने से तुम्हारी ज्यादा हानि हो जायेगी। स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन होगा। इष्ट देवता परमात्मा तुम्हारे अन्दर छिपे हुए हैं स्वाध्याय★ के साधन से तुम उनका स्वरूप-ज्ञान [नेत्रों-प्रज्ञालोक] से देख सकोगे। प्रमाद से एक रोज के स्वाध्याय से भी अपने को वंचित न करो। अभ्यासका गुण असाधारण है। चित में जो कुछ अभ्यास करोगे चित्त उसी में

❀योग-साधना में नियमित दैनन्दिन प्रणव-जाप और नियमित दैनन्दिन शास्त्राध्ययन को स्वाध्याय कहा है। यह स्वाध्याय प्रणव जप ही है—स०।

❀स्वाध्यायादिष्ट-देवता-संप्रयोगः (यो० २-४४) स्वाध्याय से परमात्मा के साथ साझा होना है। परमेश्वर का अनुग्रह होना है—(ऋ.भा.भू.उपा.)

प्रतिष्ठित हो जायेगा। निरन्तर जिसका संग करोगे वह तुम्हारा अपना बन जायेगा। स्वाध्याय के द्वारा तुम परमात्मा का संग करते रहो, तो सत्यद्रष्टा ऋषि-मुनियों का संग भी कर सकोगे। निरन्तर स्वाध्याय के द्वारा उन सबको और भगवान् को अपना संगी-साथी बना लो। जीवन सार्थक हो जायेगा। मनुष्य सामाजिक जीव है। इसलिए मनुष्य दूसरे के संग को ढूँढ़ते हैं। तुम्हारे चिर साथी भगवान् तुम्हारे लिए अनन्त ज्ञान और आनन्द का भण्डार लेकर बैठे हुए हैं। धर्म ग्रन्थ वेद के अन्दर उन के अनन्त अपार ज्ञान की विभूति के दर्शन करते रहो। ज्ञानामृत-पान करते रहो। असंख्य जीवनों की क्षुधा-तृष्णा मिट जायेगी। शास्त्रग्रन्थों के अन्दर रहते हुए ऋषि-मुनि लोग तमसावृत जगत् के अन्दर भटकते हुए तुमको गन्तव्य स्थान का सन्धान बतला देंगे। दुःखी अन्तःकरण को सान्त्वना देंगे, शोकार्त, दुःखार्त निराश-जीवन को अमृतधारा से संजीवित कर देंगे।"

गुरुदेव के ये अमूल्य उपदेश आज भी मेरे कानों में और अन्तःकरण में प्रतिध्वनित हो रहे हैं। वह उपदेश आज भी जीवित, जागृत हैं, प्रेरणा देने वाले हैं। त्यागी-भोगी, संसारी-ब्रह्मचारी, बालक-बालिका, युवक-युवती, वृद्ध-वृद्धा सब ही के लिए स्वाध्याय परम साधना है। यह परम कल्याणकर है।

योग-शास्त्र के **क्रिया योग** ये हैं– तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। स्वाध्याय-क्रिया तपः और ईश्वर-प्रणिधान के बीच में है। स्वाध्याय दोनों को पुष्ट करता है। प्राण, मन और बुद्धि की गति सर्वदा ही बाहर की तरफ है। बाहर के विषयों के प्रति ये बड़े ही आसक्त रहते हैं। यह विषयासक्ति ही मलिनता है। तुम स्वाध्याय के प्रभाव से ही मन, बुद्धि और प्राण को अन्तर्मुखीन कर सकते हो। सूक्ष्म देह के संस्कार के लिए स्वाध्याय बहुत ही उपयोगी है। बाहर का सुख अस्थायी और मलिन है और भीतर का सुख स्थायी और निर्मल है। भीतर के सुख का सन्धान एकमात्र स्वाध्याय के द्वारा ही मिल सकता है।

मन्त्र-जप भी स्वाध्याय का एक अंग है। प्रणव अर्थात् ओंकार का और गायत्री मन्त्र का अर्थभावना के साथ जप करना ही जप है। जप करते, करते ध्यान की स्थिति आ जाती है और आगे समाधि की तन्मय स्थिति भी आ जाती है। यह तन्मय अवस्था ही समाधि की सूचना है। जिस के चित्त में रजोगुण अधिक है उसकी तन्मय स्थिति अल्पक्षण स्थायी होती

है। जप में अभ्यास होने से रजोगुण की मात्रा कम हो जाती है, सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती है। अभ्यस्त योगी का जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी चल सकता है। इससे भी समाधि का रास्ता खुल जाता है। स्वाध्याय के अंग ग्रन्थपाठ और जप दोनों ही समान उपयोगी हैं। एक दूसरे का परिपूरक है। यह स्वाध्याय मेरे लिए चिर-साथी है। स्वाध्याय से प्राण, मन बुद्धि की मलिनता कट जाती है।

ईश्वर प्रणिधान-साधना

सब कार्यों के फल को भगवान् में अर्पण कर देना ही ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि होती है ❀। छोटा शिशु जैसे स्नेहमयी जननी की गोद में लेटकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, साधक उसी प्रकार अपनी अहंकार-भावना को छोड़ कर सब भगवान् में समर्पण कर के पूर्णतया निश्चिन्त और निर्भर हो जाते हैं। संग हमारी उन्नति और अवनति का कारण है। स्थूल विषय के संग करने से हम स्थूल विषय में आकृष्ट होकर प्रवृत्तिपथ में धावित होते हैं। सूक्ष्म विषय का संग करने से हमारा मन प्रवृत्ति के पथ को छोड़कर निवृत्ति के पथ पर पहुँच जायेगा। भगवान् परम सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए समाधि योग से उनका संग करने से भगवान् की उपलब्धि होगी। इस समाधि-लाभ का प्रथम सोपान ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधान से सामयिक उद्वेग, अशान्ति, दुश्चिन्ता एक क्षण के लिए भी ठहर नहीं सकते, यह मेरा अनुभव है।

प्रत्याहार साधना

पंच ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—अपने-अपने विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श के साथ स्वाभाविक रूप से ही संयुक्त होते हैं। जब यह संयोग बन्द हो जाता है और इन्द्रिय चित्ताकार हो जाते हैं तब इसका नाम प्रत्याहार है★ चित्त के

❀ समाधि-सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० २.४५) पूर्वोक्त ईश्वर-प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि के प्राप्त होता है। -ऋ० भा० भू० उपा०—'ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होने से मनुष्य समाधि-योग को शीघ्र प्राप्त होता है। —वहीं

★ जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है।-(ऋ० भा० भू० उपा०) देखो—स्वविषया० यो० २-५४॥

इच्छानुसार ही इन्द्रिय गण विषयों से संयुक्त होते हैं। चक्षु रूप से, कर्ण शब्द से, नासिका गन्ध से, जिह्वा रस से, और चर्म स्पर्श से संयुक्त होते हैं। केवल मन जब चाहता है तब। मन एक ही समय में केवल एक ही इन्द्रिय को विषय में संयुक्त कर सकता है। (ह.ले.७१पृ) दूसरे इन्द्रिय तब अपने-अपने विषयों से वियुक्त रहते हैं। इस प्रकार सब इन्द्रियों (अर्थात्-पाँचों इन्द्रियों) के विषयों से वियुक्त होने पर प्रत्याहार सम्भव होता है। इन्द्रियगण के तब निष्कर्म की स्थिति में आजानेसे चित्त में इन्द्रियाँ लय को प्राप्त हो जाती हैं। तब इन्द्रियगण का मन के स्वरूप को प्राप्त हो जाना है इनके लिए अलग कोई कार्य नहीं रहता। इन्द्रियगण के विषयों से प्रत्यावर्तन करने का नाम ही 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार बाहर से भी होता है और भीतर से भी होता है।

चित्त में धारणा-शक्ति प्रबल होने से हम लोग किसी एक विषय पर दीर्घ समय तक एकाग्रता के साथ रह सकते हैं। बाहर से प्रत्याहार का साधन होने से अधिक फल लाभ नहीं होता है। चक्षु बन्द करने से रूप दर्शन क्रिया बन्द होती है। यह कच्चा प्रत्याहार है। क्योंकि उस समय भी मन से तुम दर्शन कर सकते हो। लेकिन मन से दर्शन क्रिया बन्द करना यह पक्का प्रत्याहार है। कच्चा प्रत्याहार टूट जाता है। लेकिन पक्का प्रत्याहार टूटता नहीं। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का साधन सम्भव होता है। प्रत्याहार-सिद्धि से इन्द्रिय संयम की सिद्धि होती है इन्द्रिय संयम के बिना सर्व प्रकार की साधना ही विफल हो जाती है। मैंने गुरुदेव के उपदेश से प्रत्याहार साधना शुरू कर दी थी और यथासमय इसकी सिद्धि मिल गई थी। इस की सिद्धि में सब ही को देर लगती है। मुझे भी काफी देर लगी थी।

इस रूप से मेरे गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी गिरि ने राजयोग की शिक्षा प्रत्याहार तक क्रमानुसार दी थी। मेरे दोनों गुरुदेव स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि ने मुझ पर असीम कृपा की थी। दोनों का ही मैं आभारी हूं। दोनों ने एक महीने भर आबू पर्वत में रहने के लिये मेरे ऊपर आश्रम का भार छोड़ दिया और चाणोद से प्रस्थान किया। यहाँ एक महीने एकान्त में रहकर साधना के लिए समय मिला। गुरुओं का आदेश था कि एक महीने की समाप्ति पर स्वामी धर्मानन्द के यहाँ आने से उनके ऊपर आश्रम का भार छोड़ कर अहमदाबाद में वहाँ

के दुग्धेश्वर मन्दिर में जाकर उन दोनों से मिलना। वहाँ उन दोनों से धारणा, ध्यान और समाधि के विषय में शिक्षा मिल जाएगी।

मैं तदनुसार चाणोद आश्रम में ही रहा और एकान्त जीवन पाकर हठ-योग और राज-योग के अनुसार साधन करने लगा। एकान्त साधना से बहुत ही उपकार हुआ। महर्षि पतंजलि की उक्ति ही ठीक है। जिनके संगत में हम लोग हमेशा रहते हैं उन्हीं के दोष या गुण हमारे अन्दर आने लगते हैं। निरन्तर भगवत्-चिंतन करने से चित्त भगवत्-भाव में रूपान्तरित हो जाता है। मन्त्रों की अर्थ चिन्ता कर के निरन्तर जप और ध्यानादि करने से हमारी बुद्धि विषयों को छोड़ कर ईश्वराभिमुखीन होती है। इस बुद्धि या चेतना का नाम **प्रत्यक्-चेतना** है। इस प्रत्यक्-चेतना के आने पर योग-साधनाके अन्तराय और विघ्न नष्ट हो जाते हैं।

योग-साधना के अन्तराय—योग-साधना के अन्तराय नव प्रकार के हैं*—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व। ये अन्तराय साधना में विघ्न डालते हैं। चित्त में विक्षेप लाते हैं और चित्त को स्थिर होने नहीं देते हैं। चित को स्थिर करना ही साधना है। ये नव प्रकार के अन्तराय रहने से चित्त स्थिर नहीं हो सकता। अपितु चंचल होता है। इन अन्तराय और विघ्नों को हटाने के लिए मैंने बहुत प्रकार से सोच-विचार करके कुछ उपाय ठीक कर लिये थे। ये उपाय बहुत ही उपयोगी मालूम पड़े।

१. **व्याधि**—शारीरिक अस्वस्थता का नाम व्याधि और मानसिक अस्वस्थता का नाम आधि है। व्याधि के साथ आधि का निकट सम्बन्ध है। शरीर अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है। शरीर और मन अस्वस्थ होने पर साधना असम्भव है। स्वास्थ्यकर, पुष्टिकर और सुस्वादु आहार परिमित रूप से ग्रहण करने से शरीर स्वस्थ होता है और भगवत्-संगति और स्तवन-स्तुति से मन स्वस्थ होता है।

२. **स्त्यान**—साधना कर्तव्य है और आवश्यक है—इसको जानते हुए भी साधना में बहुत आदमी तत्पर नहीं होते हैं। क्योंकि साधना के

---

*व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्या-विरति-भ्रान्तिदर्शना-लब्धभूमिकत्वा-नवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। (यो० १।३०।। ऋ० भा० भू० उपा०)

लिए इच्छा पैदा नहीं होती है। इसी का नाम स्त्यान है। कठोर पुरुषकार, अध्यवसाय और मानसिक बल के प्रयोग से स्त्यान को हटाना चाहिए।

३. **संशय**—जिस कार्य में संशय है उस कार्य को उत्साह और उद्यम के साथ करना कठिन है। इसलिए प्रथमतः संशयभंजन की आवश्यकता है। शास्त्रों के उपदेश, गुरु के आदेश, विवेक बुद्धि से आलोचना आदि के द्वारा संदेह-भंजन होता है।

४. **प्रमाद**— समाधि-लाभ के लिए गुरु से जो कुछ साधन-प्रणाली जानी जाती है वह सब कुछ भूल जाना, साधना को छोड़ देना और पुनः पुनः विषय-भोग में लिप्त हो जाना इसी का नाम प्रमाद है। ऐसी भूल फिर नहीं हो, आत्म-विस्मृति न हो, इसलिए अनुताप आने से ही साधना-भंग के कारण कौन-सा सर्वनाश हुआ इस पर बार-बार चिन्तन करना और इसके प्रायश्चित्त के लिए दो दिन उपवास के बाद दृढ़ संकल्प के साथ साधना का अभ्यास आरम्भ कर देना कर्तव्य है।

५. **आलस्य**—शरीर में दोष होने से ही आलस्य आ जाता है। शरीर साधना करना नहीं चाहता है आसन आदि के अभ्यास में अप्रवृत्ति आती है। लेटे हुए रहना ही अच्छा मालूम पड़ता है। मन में भी ऐसे आलस्य का आ जाना, भगवत् विषयक चिन्तन करना कठिन होना, ध्यानादि में भी अप्रवृत्ति आना—तमःगुण की वृद्धि से शरीर और मन की इस रूप की अवस्था होने से तमःगुण के प्रभाव और आलस्य को हटाने के लिए किसी निर्जन स्थान में बैठकर एक हजार बार गायत्री मन्त्र का जप करना पर्याप्त है।

६. **अविरति**—विषय-भोग से विरति न होना अविरति है। विषय-भोग में मग्न हो जाना भी अविरति है। अविरति त्याग करने के लिए विषय का विषमय फल बार-बार चिन्तन करके साधन में व्रती हो जाना चाहिए। विषय भोग के संकल्प छोड़ने से विषयासक्ति कम हो जाती है।

७. **भ्रान्ति-दर्शन**— भूल का अनुभव होना ही भ्रान्ति-दर्शन है। सत्य को मिथ्या समझना और मिथ्या को सत्य समझना भ्रान्ति-दर्शन है। शरीर को आत्मा समझना, नश्वर शरीर को चिरस्थायी समझना, दूसरे सम्बन्धी जनों को चिर साथी समझना भ्रान्ति-दर्शन है। साधन करने से अन्तर्दृष्टि का लाभ होता है और इससे ही भ्रान्तिदर्शन दूर होता है।

८. **अलब्ध-भूमिकत्व**—योग-साधना करते-करते किसी उच्चतर स्थिति में पहुँचने में असमर्थ होना अलब्ध-भूमिकत्व है। पुरुषकार और अध्यवसाय व्यर्थ नहीं होता है। इस पर पूर्ण विश्वास रखकर ही साधना में लगे रहने से ही यथासमय उत्कर्ष समक्ष आ जायेगा।

९. **अनवस्थितत्व**—किसी उच्चतर स्थिति के लाभ करने पर भी उसमें दीर्घ काल तक चित्त उन्नत और स्थिर नहीं रहता। उससे फिर नीचे आ जाता है। अध्यवसाय के साथ फिर उच्च स्थिति में ले जाने के लिए दृढ़ संकल्प धारण करने से यह हट जायेगा।

मैंने आश्रम में एक महीने तक एकान्तवास का सुयोग पाकर इन सब साधन-विरोधी स्थितियों पर बहुत गम्भीर रूप से चिन्तन किया था। ये सब रजः और तमः प्रभाव से ही आते हैं और चित्त को इतस्ततः विक्षिप्त कर देते हैं और चित्त को एकाग्र होने नहीं देते। मैंने अच्छी तरह समझ लिया था कि ईश्वरोपासना और योगांगों के सम्यक् अनुष्ठान से ही साधक इस स्थिति से पार हो सकता है।

१०. **योग-साधना के विघ्न**—इन ९ अन्तरायों के अलावा चित्त में विक्षेप उत्पादनकारी ४ प्रकार के विघ्न हैं। ये विघ्न भी साधक को उत्कर्ष से वंचित रखते हैं। ये ४ विघ्न इस प्रकार हैं :—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व और श्वास-प्रश्वास।❀

(१) **दुःख**—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक-इन तीन दुःखों का नाम ही त्रिताप है। शारीरिक और मानसिक पीड़ा का नाम ही आध्यात्मिक दुःख है। दूसरे प्राणी से प्राप्त दुःख का नाम ही आधिभौतिक दुःख और प्राकृतिक दुर्योग से प्राप्त दुःख का नाम आधिदैविक दुःख है। (ह. ले. पृ. ८०)

(२) **दौर्मनस्य**—त्रिविध दुःख या ताप से पीड़ित होकर साधक कभी-कभी किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। चित्त दुःख के कारण अभिभूत हो जाता है। इसी का नाम दौर्मनस्य है।

(३) **अंगमेजयत्व**—त्रिविध दुःख या ताप के कारण साधक का शरीर कभी-कभी कम्पित होने लगता है। मन अस्थिर हो जाता है, शरीर भी अस्थिर हो जाता है। इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार के कम्पन साधक को अभिभूत करते हैं।

❀ दुःख-दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-श्वास प्रश्वासाः विक्षेप सह भुवः ॥यो. १-३१॥ (ऋ. भा. भू. उपा०)

(४) **श्वास-प्रश्वास**—दुःख के कारण साधक के श्वास-प्रश्वास भी चंचल हो जाते हैं। इनके चंचल होने से योगसाधना चल हो जाती है। प्राणायाम के द्वारा यह श्वास-प्रश्वास का क्लेश दूर हो जाता है।

उपाय समूह—इन सब अन्तराय और विघ्नों को दूर करने के लिये बहुविध उपाय हैं। ऋषि पतंजलि ने एक तत्त्व के अभ्यास का आदेश सर्व-प्रथम दिया है।

(१) **एक तत्त्व का अभ्यास**❀

इन दोनों अन्तरायों और विघ्नों के निवारण के लिये किसी अभिमत मनोरम या प्रीतिकर तत्त्व का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के समय मन दूसरी किसी वस्तु के प्रति धावित न हो। इसको ध्येय वस्तु में ही आबद्ध रखना चाहिये। इन्द्रियों के किसी (विषय-वस्तु शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध) पर ध्यान करना निरापद् नहीं है। इससे विषय वस्तु के प्रभाव के कारण मन चंचल भी हो सकता है। भगवान् के गुणों पर ध्यान जमाना ही निरापद् है। लेकिन स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जानेका ही विधान है। भगवान् द्वारा रचित इस विराट्, विशाल और विस्मयकर विश्व के समग्र स्थूल रूप में ध्यान करने का विधान है, मनुष्य रचित किसी वस्तु पर ध्यान से विपरीत फल होता है। एक तत्त्वाभ्यास में भगवत्-तत्त्व ही सर्वोत्तम है। इससे शारीरिक यन्त्र और क्रियायें एकतान में आती हैं। शरीर और इन्द्रियों के द्वारा भगवान् के आदिष्ट कर्म करने से और उनके प्रति लक्ष्य रखने से एकतत्त्वाभ्यास हो जायेगा। आसन, मुद्रा और प्राणायामादि के द्वारा साथ-साथ शरीर, मन और श्वास-प्रश्वासादि को स्थिर करने से चित्त का विक्षेप नष्ट हो जाता है। भगवान् के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं रखने से ईश्वर तत्त्व या एक तत्त्व लाभ करना कठिन है। जो कुछ हो, ईश्वर में एक तत्त्वाभ्यास करना ही सर्वोत्तम है।

(२) **चित्त की प्रसन्नता**★

चित्त की प्रसन्नता आने से भी मन स्थिर हो जाता है। चित्त की प्रसन्नता के लिए ऋषि पतंजलि ने विधान किया है—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना करो। इससे मन एकाग्र होकर स्थिर हो जाता है। दूसरे के सुख से अपने अन्दर सुख बोध करना मैत्री है। दूसरे का

❀तत् प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास ॥यो. १।३२॥ देखो ऋ.भा.भू.पृ. २१६

★मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षणा सुख-दुःख-पुण्यापुण्य विषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम् ॥यो. १।३३॥ देखो—ऋ.भा.भू. पृ. २१८

दुःख देखने से अपने अन्दर दुःख का बोध करना करुणा है। दूसरे के पवित्र कार्य को देख कर मुदिता अर्थात् आनन्द का अनुभव करना और दूसरे के पाप कार्य को देख कर उपेक्षा करना मानो तुमने देखा ही नहीं। इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा से भी मन सुस्थिर हो जाता है। इनके अभ्यास से चित्त धीरे-धीरे, शान्त सुस्थिर होता है।

(३) **प्रच्छर्दन और विधारण**❀

भीतर के वायु को कौशल से बाहर कर देना प्रच्छर्दन है। इससे और प्राण को संयत करने से चित्त स्थिर होता है। प्रच्छर्दन का कौशल यह है—

१. श्वास को धीरे धीरे भीतर लेना।

२. प्रश्वास को धीरे-धीरे छोड़ते रहना।

३. उस समय शरीर को सम्पूर्ण स्थिर और शिथिल रखना।

४. मन के अन्दर कोई चिन्ता न रखना।

५. मन को संकल्पहीन रखना और मन में शून्यवत् भावना रखना। इसी का नाम रेचन है।

रेचन के बाद वायु को झटपट पूरण न करना, बाहर ही कुछ समय वायु को धारण करना, मन को शून्यवत् रखना इसी का नाम विधारण है। सहज भाव से पूरण करना, धारण करना और रेचन करना ही कौशल है। इससे भी मन की स्थिरता आ जाती है।

(४) **ज्योति-ध्यान**★

मन के अन्दर स्वच्छ अनन्त आकाश के सदृश विराट् और विशाल ज्योतिः का ध्यान करना 'मेरी सभी दिक् ज्योति से परिपूर्ण है" इस भावना में दृढ़ रूप से अभ्यस्त होने से मन में परम शान्ति का आविर्भाव और उसके प्रभाव से मन शान्त और सुस्थिर हो जायगा।

❀प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य ॥यो. १।३४॥ देखो—ऋ. भा. भू. पृ. २१८, सत्यार्थप्रकाश समु. । संस्कार विधि-गृहस्थ प्रकरण ।पंचमहा०)

★ विशोका वा ज्योतिष्मती ॥यो. १।३६॥ देखो—हुगली शास्त्रार्थ।

महापुरुषों की चिन्ता❀

वीतराग महापुरुषों के पवित्र मनोभाव की धारणा करने की प्रचेष्टा से चित्त अनासक्त हो जाता है और इस भाव के ध्यान करने से भी चित्त सुस्थिर हो जाता है।

(६) **चित्त का वशीकरण★**

जब योगी अपने चित्त को परमाणु से लेकर महत् तत्त्व तक किसी वस्तु में स्थापन करने के लिये समर्थ हो जाता है तब वह असाधारण क्षमता-प्राप्त होता है। तब मानो सब वस्तुओं पर उनका अधिकार हो गया है।

चित्त को सुस्थिर करने से ९ प्रकार के अन्तराय और ४ प्रकार के विघ्न दूर हो जाते हैं जो सब साधना को नष्ट कर देते हैं, इस लिये इनके विनाश के लिये इन सब प्रणालियों और पद्धतियों का ऋषियों ने आविष्कार किया है। आज तक भारतीय आध्यात्मिक साधना इन नियमों पर ही चल रही है।

चित्त पाठ

साधकों के लिये अपने और दूसरे के चित्तों का पाठ करना जरूरी है। चित्तों में नाना प्रकार के संस्कार पड़े हुए हैं। उन संस्कारों से ही कामना और वासना की उत्पति होती है। जिसने पूर्व जीवनों में बहुत असत् कार्य या सत् कार्य किया है उसके चित्त में उन असत् या सत् कार्यों का संस्कार जरा हुआ है। उसके मन में उन सत् या असत् कार्यों की वासना उठेगी। हर एक मनुष्य के मन में जो-जो वासनायें हैं वे सब चित्त के संस्कार से आती हैं। जिसने पूर्व जीवन में चोरी के संस्कारों का संग्रह करके रखा है, इस जन्म में उसमें चोरी की इच्छा जमा होगी और वह चोर बनेगा। पूर्व जन्मों में जिन्होंने दान किया था, उनके चित्त में उस दान का संस्कार जमा हुआ है और इस जन्म में उसमें दान का संस्कार जगेगा और वे दान करेंगे। चित्त के संस्कार के अनुसार बाध्य होकर लोग

❀ वीत राग विषयं वा चित्तम् ॥यो. १।३७॥

★ परमाणु परम महत्तत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥यो. १।४०

विभिन्न कार्य करते हैं। हम लोग अगर इस जीवन में सत् कार्य करते हैं तो पर जीवन में हमारे अन्दर सत् कार्य करने की वासना उत्पन्न होगी।

योगी साधकों को चाहिए कि चित्त में जब-जब जिन-जिन वासनाओं का उदय हो, तब-तब उनके प्रति ध्यान रखें। इस रूप से धीरे-धीरे उनके अन्दर चित्त-दर्शन का अभ्यास आ जायगा। तब वे आसानी से समझ सकेंगे कि पूर्व जन्म में हम कौन सी प्रकृति के जीव थे। इस रूप से चित्त-पाठ करना बहुत आनन्ददायक है। अपने चित्त का पाठ करना ही है, दूसरे के चित्त का भी पाठ करते जाना।

ऐसे चित्त-पाठ में अभ्यस्त हो जाने से तब कौन किस प्रकृति का है उसको आसानी से समझ सकोगे और उसके प्रति यथा-योग्य व्यवहार कर सकोगे। इस जन्म के कार्यों का विचार करके हम अगले जन्म में क्या होंगे इस बात को भी समझ सकेंगे।

भगवत् तत्त्व❀

साधना के लिये ईश्वर-विषयक किसी तत्त्व को लेकर अभ्यास करने से हमारे विक्षेप सब के सब नष्ट हो जायेंगे और चित्त निर्मल और एकाग्र हो जायगा। चित्त की स्थिरता और एकाग्रता ही साधना की मूल वस्तु है। प्रतिक्षण चित्त की संस्कार-वृति के उदय के प्रति ध्यान रखने से एक तत्त्वाभ्यास सुगम हो जाता है। यह भी उत्तम साधना है। भगवत्तत्त्व सर्वतत्त्वों से ऊपर है। प्रकृति के चतुर्विंशति तत्त्वों के किसी एक तत्त्व को लेकर साधना करने से ही तत्त्वाभ्यास का फल मिलेगा। लेकिन भगवान् के असंख्य तत्त्वों या स्वरूप को लेकर योग-साधना करने से चरम फल अति शीघ्र मिल सकता है। इस प्रकार भोगी और प्रकृतिभक्त एक ही पथ के पथिक बन जाते हैं।

योगविद्या का गुरुत्व—मेरे गुरुदेव श्रीमत् स्वामी ज्वालानन्द★पुरी ने

❀ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ यो. १. ३२५ देखो— ऋ. भा. भू. पृ. २१६

★ वर्षों योगी मिले कि जिन का नाम ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि था। उन से योगाभ्यास की बातें हुईं और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ। वहाँ हम नदी के ऊपर दग्धेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहाँ तुम आओगे तो तुम को योगाभ्यास की और रीति सिखलायेंगे।...फिर एक महीने पीछे मैं भी उन से मिला। (जन्म चरित्र पृ० २४)

मुझको योग विद्यार्थी शिष्य रूप में प्राप्त कर जो उपदेश दिया था वह आज तक मेरे हृदय में उज्ज्वल रूप से विद्यमान है। उन्होंने कहा था--'चित्तवृत्ति का निरोध करना ही योग है। यह योग-साधन ही मानव-जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। योग-साधन के लिये ही हमको मनुष्य-जीवन मिला है। पशु-वृत्ति चरितार्थ करने के लिये मनुष्य-जीवन नहीं है। मनुष्य-जीवन अति दुर्लभ है। अनेक सुकृत और भगवान् की कृपा से हम को मनुष्य-जीवन मिला है, मानवदेह से मानव के उपयोगी कार्य करना ही जरूरी है। पशुवृत्ति से पशुवृत्ति की तृप्ति नहीं होती है। उत्तरोत्तर इसकी वृद्धि ही होती है और इससे ज्यादा से ज्यादा कष्ट मिलता है।

चित्तवृत्ति क्या है? चित्त के स्रोत का नाम ही चित्तवृत्ति है। कामना ही चित्तवृत्ति है। जिसका चित्त जितना चंचल है उसको उतना ही कष्ट मिलता है। जिसके चित्त में कामना नहीं है वह ही सुखी है। विषय वासना ही दुःख का मूल हेतु है। जिसके जितना वैराग्य है वह उतना ही सुखी है। विषयों में आसक्ति-हीन होना ही वैराग्य है। विषयासक्ति से ही संस्कार बनता है। संस्कार ही दुःख-कष्ट का मूल है। हम लोग अनादि काल से संस्कारों का संचय कर रहे हैं। संस्कार के अनुसार अनादिकाल से हम लोगों ने लाखों प्रकार के देहों को धारण किया है और कर रहे हैं। संस्कारों को दूर करने के लिये ही साधना की आवश्यकता है और इस साधना का नाम ही योग-साधना है। योग-साधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मूल साधना है।

विषयासक्ति ही पाप है। विषयासक्ति ही हमको पाप की तरफ ले जाती है। विषयासक्ति के कारण रूप रस शब्द स्पर्श गन्ध हमारे अन्दर चित्त में छाप दे देते हैं (ह.ले.६०पृ.) और वह छाप अनन्त काल के लिये रह जाती है। वह छाप ही संस्कार हैं। अनन्तकाल से यह छाप संचित हो रही है। इसी का नाम कर्माशय, हृदयग्रन्थि या अविद्या का बन्धन है। इस कर्माशय से ही वासना का उद्रेक होता है। उस वासना के आधीन होके ही हमारे इन्द्रिय गण परिचालित होते हैं। इस वासना का प्रतिरोध करना साधना का अंग विशेष है। संस्कार के क्षय होने से ही चित्त-शुद्धि होती है और चित्त-शुद्धि होने से ही चित्तवृत्ति का निरोध होता है। इसी का नाम योग है।

मानव-जीवन में योग-सिद्धि न होने से मानव-जीवन बेकार बन

जाता है। दयानन्द ! तुमने योग-साधना के द्वारा इस मानव-जीवन को सार्थक और धन्य करने के लिये ही सन्न्यासाश्रम ग्रहण किया है।

योग-साधना की प्रस्तुति—मेरे गुरुदेव श्रीमत् स्वामी शिवानन्द गिरि ने मुझे योग-शिक्षार्थी शिष्य रूप में पाकर जो उपदेश दिया था वह भी आज तक मेरे हृदय में उज्ज्वल रूप से विद्यमान है। उन्होंने कहा था—"दयानन्द ! योग-विद्या-शिक्षा के लिये ही तुमने पितृगृह को छोड़ा है। यह तो वैराग्य का परिचय है लेकिन केवल वैराग्य से ही योग-विद्या का लाभ नहीं होता है। इसके साथ अभ्यास चाहिये। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही योग अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होता है। अभ्यास के विना कोई कार्य सफल नहीं होता। कार्य में जितना कठोर अभ्यास करोगे उस कार्य की सिद्धि उतनी ही शीघ्र सफल होगी। बारबार निष्ठा और श्रद्धा के साथ कार्य की सफलता के लिये यत्न करना ही अभ्यास है। अभ्यास के ऊपर कार्य की सिद्धि निर्भर करती है। अभ्यास से जो सिद्ध नहीं हुआ हो ऐसा कोई कार्य नहीं है। जो विद्यार्थी उत्तमरूप से विद्याभ्यास करता है वह उत्तम रूप से विद्यालाभ करता है, उसी प्रकार योग-अभ्यास उत्तम रूप से करने से उत्तम योगी बन जाओगे।

"योगाभ्यास ही श्रेष्ठ अभ्यास है। योग-साधन के विना परम सुख-प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं है। धैर्य के साथ अभ्यास करना है। बहुत शिक्षार्थी कुछ देर तक साधना और अभ्यास के बाद ही धैर्य खो बैठते हैं और योग-साधना छोड़-छाड़ कर चले जाते हैं। योगसाधन जितना भी कठिन हो इसको छोड़ना नहीं। जो कार्य जितना ही कठिन हो, अभ्यास करते-करते वह सुगम हो जाता है। बालक हो,युवक हो या वृद्ध हो तुमको अष्टांग योग-साधन करना ही पड़ेगा। सुख और शान्ति के लाभ का दूसरा रास्ता नहीं है। जो वृद्ध हो गया है और अन्त तक समय व्यर्थ नष्ट किया है, उसके लिये भी चिन्ता का कोई कारण नहीं है। आयु अगर एक रोज के लिये भी बाकी रहे तो भी योग-साधना से निवृत्त नहीं होना चाहिए। एक रोज के लिए योग-साधन करने के बाद भी अगर मृत्यु हो जाय तो भी वह श्रेयस्कर है, क्योंकि तुम उत्कृष्ट योगी के वंश में जन्म लोगे। मृत्यु काल से भी अगर योग-साधना की प्रबल आकांक्षा रहे तो दूसरे जन्म में तुम निश्चित रूप से ही उत्तम और अनुकूल देह लाभ करोगे। प्रभु तुम्हें ऐसा सुयोग दे देंगे कि तुम सत्संग में रहकर योगसाधन में सिद्धिलाभ करोगे।

"हताश या निराश नहीं होना चाहिये। भगवान् के ऊपर सब न्यस्त करके योग-साधना में व्रती हो जाओ। वृद्ध के लिये भी एक ही बात है। इतने रोज आयु को वृथा नष्ट कर दिया है। जीवन का आधा आयु निद्रा में खो दिया, बाकी आधे को बाल्यकाल के लड़कपन में, यौवन को सब सम्बन्धियों के कृतदासत्व में खो दिया। अब वृद्धावस्था में रोग, शोक और जरा से आक्रान्त हो कर, शरीर और मन का बल खोकर दुश्चिन्ता में चारों तरफ निराशा का अन्धकार देख रहे हो। लेकिन डरो मत, मन में साहस रखो। भगवान् की शरण में आ जाओ, पाप-कार्यों को बिल्कुल छोड़ दो, इस मुहूर्त्त से ही योगाभ्यास में प्रयत्नशील हो जाओ, तुम्हारा मंगल होगा"।

"दयानन्द ! केवल मात्र योगाभ्यास से ही काम नहीं चलेगा। साथ-साथ वैराग्य भी चाहिये[1]। विषयों के प्रति वैराग्य नहीं होने से मुक्ति, मोक्ष कैवल्य या परमानन्द नहीं मिलता। वैराग्य के विना केवल अभ्यास से योग की सिद्धि नहीं होती है। इन्द्रियों को यदि विषयों से निवृत्त नहीं कर सकोगे, विषय-लालसा से इन्द्रियों को यदि संयत नहीं कर सकोगे तो योग-साधना कठिन हो जायगी। इन्द्रियों को संयत रखो। पशुवृत्तियों को छोड़ दो, योग में सिद्धि-लाभ करोगे"

एक महीने की एकान्त साधना—दोनों गुरुओं के आबू पर्वत पर चले जाने के बाद मुझको एक महीने के लिए चाणोद आश्रम में अकेले ही रहना पड़ा। इस एक महीने में मुझको एकान्त और निष्संग साधना में निमग्न रहने का मौका मिल गया था। अष्टांग राजयोग के बहिरंग साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार के अभ्यास और अनुशीलन में ही यह एक मास बीत गया। दुग्धेश्वर मन्दिर में जाकर उन लोगों से अन्तरंग साधना—धारणा, ध्यान, समाधि की शिक्षा ग्रहण की जाएगी, ऐसा ही तय हुआ। श्रीमान् स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने मुझे हठयोग की शिक्षा देने के समय कहा था कि यम-नियम साधना के द्वारा योगविद्या[2] का बीज

---

१. दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥(यो० १. २५.॥ देखो स. प्र. ६ समु०, संस्कार विधि—वानप्रस्थ-सन्न्यास०)

२. यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावंगानि ॥(यो० २-२९॥ देखो—ऋ० भा० भू० उपासना)।

रोपा जाता है—आसन, प्राणायाम के द्वारा वह अंकुरित होता है, प्रत्याहार के द्वारा वह पुष्पित होता है और धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा वह फलवान् होता है। हठयोग के द्वारा इसके पौधे की स्थिति में आवेष्टनी के रूप में शारीरिक और मानसिक क्लेश से साधकों को बचाया जाता है। मैं दिन और रात के अधिकांश समय में योग-साधना में ही व्यस्त रहता था।

एक दिन की घटना—चाणोद में रहने के समय मैं दिन में केवल जल-मिश्रित दूध पी लेता था और रात को थोड़े फल खा लेता था। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं लेता था। हम सब आश्रमवासियों के लिए अगल-बगल गाँवों के रहने वाले लोग दूध भेज देते थे। दोनों गुरुओं के चले जाने के बाद ग्रामवासियों ने समझा कि आश्रम में कोई आदमी नहीं है, इसलिए दूध लाना बन्द कर दिया था। पहिले दिन को केवल जल पीकर और फल खाकर ही मैंने दिन काट दिया था। दूसरे दिन एक दुग्धवती गाय कहीं से भागकर मेरी कुटिया के सन्मुख खड़ी होकर रम्भाने लगी। साथ-साथ पीछे गाय के मालिक दो भाई भी पहुँच गये। गाय के मालिकों ने कहा कि इस गाय का दूध हर रोज आश्रमवासियों की सेवा में भेजा जाता था। हम लोगों ने सुना था कि आप लोग सब के सब कहीं चले गए हैं। कल इसलिए दूध नहीं भेजा गया था। आज सवेरे ही गाय भाग गई। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ आकर गाय को देखते हैं। हम घर जाकर आपकी सेवा में दूध भिजवा देंगे। लेकिन गाय आश्रम को छोड़कर घर जाना नहीं चाहती थी। हम सबने समझ लिया कि कल हमने दूध नहीं दिया था, इसलिये आज हम को दूध पिला कर गाय घर को जायेगी। बछड़ा वहाँ लाया गया, दूध दुहा गया और मुझको दूध पिलाने के बाद गाय बछड़े को लेकर मालिकों के साथ अपने घर चली गई। तब से आश्रम में जब तक रहा तब तक प्रतिदिन मेरे लिये दूध का प्रबन्ध हो गया था। मुझको याद आया—"प्रभो जिसका कोई नहीं है उसके तुम तो हो।"

दूसरी घटना—चाणोद के आश्रम से थोड़ी दूर नर्मदा के किनारे एक दिन मैं बैठा हुआ था, प्रकृति माता की शोभा देख रहा था। नदी के उस पार से एक नाव आई, वह यात्रियों से भरी हुई इस पार आ रही थी। इस पार आने में थोड़ी ही दूर बाकी था कि अचानक तूफान आ गया। यात्री लोग चिल्लाने लगे। यात्रियों के डर के मारे हिलने-डुलने के

कारण घाट से थोड़ी दूर पर नदी के अन्दर पानी नाव से ऊपर उठने लगा और देखते-देखते नाव पानी से भर गई। नाव नीचे मिट्टी में अटक गई, नाव के ऊपर से पानी जोर से बहने लगा। तूफान व तरंगों के कारण कोई यात्री नीचे उतर नहीं सका। सब के सब चिल्लाने लगे और माताएँ छोटे-छोटे शिशु-सन्तानों को अपनी-अपनी छाती से जोर से चिपटाती हुई रोने लगीं। नाव के मांझी लोग पानी में कूद पड़े और नाव को खींचने लगे। लेकिन नाव मिट्टी में धँस गई थी। मैं प्रकृति माता की इस भयंकर शोभा को और अधिक देर नहीं देख सका। यह तो भयंकर करुण दृश्य है। माता सन्तान को छोड़ना नहीं चाहती है। मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैं पानी में कूद पड़ा और "ओं बलमसि बलं मयि धेहि" बोलकर नाव को खींचकर आधी नाव को मिट्टी से ऊपर उठा दिया। सब यात्री लोग व मांझी लोग चकित हो गए। मैंने याद किया—"प्रभो! तुमने मेरे अन्दर इतनी शक्ति रखी है मुझे मालूम नहीं था! इस शक्ति से तुम्हारी सेवा कैसे होगी बता दो"! यजुर्वेद के इस मन्त्र को तो मैंने लड़कपन में ही पढ़ा था और आज इसका माहात्म्य भी समझ लिया।

मैं नदी के किनारे से शीघ्र चल पड़ा और सबकी दृष्टि से ओझल हो गया।

तीसरी घटना चाणोद से मैं कर्णाली के सोमनाथ के मन्दिर में किसी योगी साधु से मिलने के लिए आया था। वहाँ मेला लगा हुआ था। मेले के बाहर देखा कि एक कोढ़ी पड़ा हुआ है। कोई कह रहा है कि यह तो मर गया और कोई कहता है कि अब भी जिन्दा है। पता चला कि मन्दिर के अन्दर कोढ़ी का प्रवेश निषिद्ध है और यह अनजाने में वहाँ घुस गया था। मन्दिर में पुलिस वालों ने उसको मारते-मारते बाहिर निकाल दिया। यहाँ तक आकर बेचारा गिर पड़ा। कोई कहता था कि उसको पैरों में रस्सी बाँधकर नदी के किनारे छोड़ दो, कोई कहता था कि इस को पानी में बहा दो, मछलियाँ खालेंगी और कोई कहता था कि उसको खुले मैदान में फेंक दो। चिड़िया जानवर खालेंगे। मैंने समझ लिया कि यह आदमी अब तक जिन्दा है, क्योंकि वह पानी पीने के लिए ओठ से इशारा कर रहा था। उसके सारे शरीर से खून, पीप व कीड़े निकल रहे थे। इस अवस्था में किसी ने मुझे सहायता नहीं दी। नदी से कपड़ा

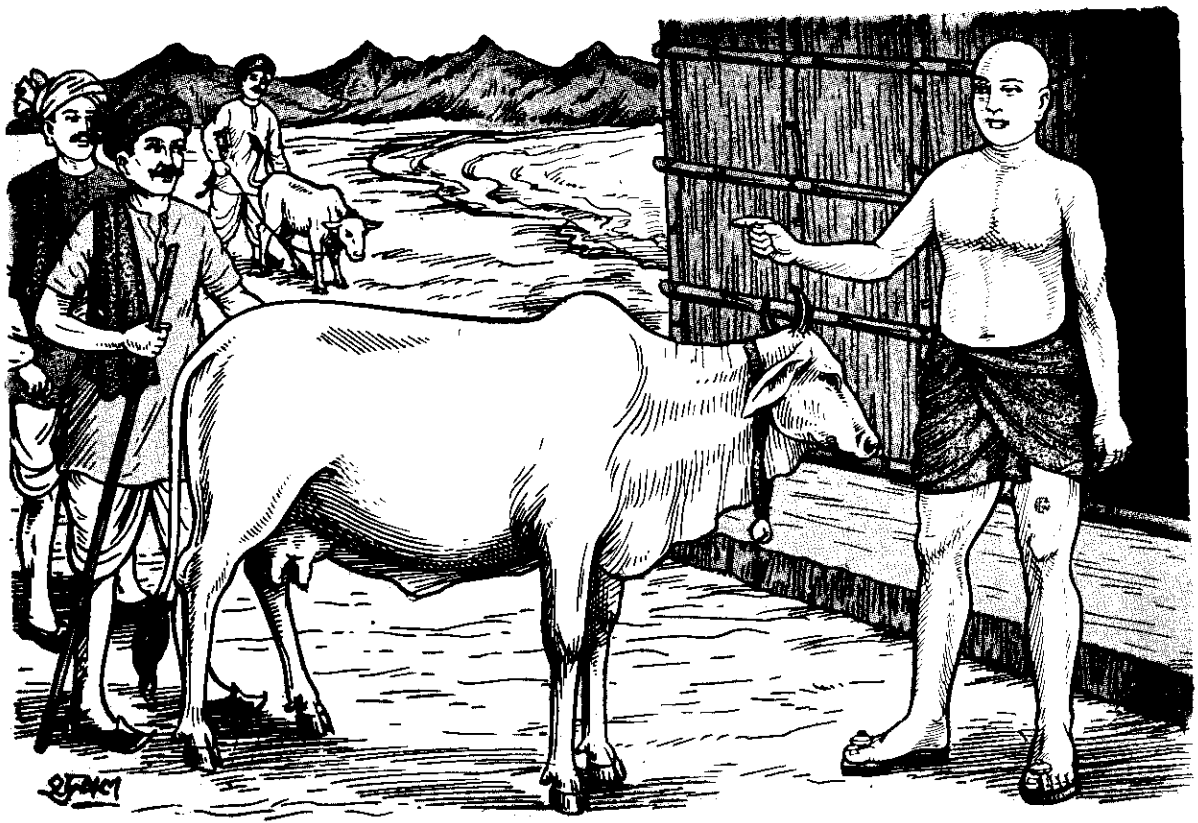

ईश प्रणिधानी, योगी दयानन्द को दूध पिला कर ही गोमाता घर लोटी । (पृष्ठ १०३)

कोढ़ी के परित्राता योग साधक युवा दयानन्द

(पृष्ठ १०४)

भिगोकर मैं जब उसके मुँह में थोड़ा-थोड़ा पानी डालने लगा तब उसने आँखें खोलीं, लेकिन कुछ बोल नहीं सका। इसी समय सरकारी पुलिस वहाँ पहुँच गई। पुलिस ने कहा—मेले के बाहिर चिकित्सा का स्थान है। वहाँ ले जाने का प्रबन्ध हो तो अच्छा है। इस खतरनाक बीमार को ले जाने का कोई प्रबन्ध न था। इसको इस रूप में छोड़कर चला जाना भी मेरे लिये असम्भव हुआ। यजुर्वेद का मंत्र याद आया—"ओं सहोऽसि सहो मयि धेहि" प्रभो तुम सहन स्वरूप हो, मुझमें सहनशक्ति की स्थापना करो। इस मन्त्र से प्रभु को स्मरण करके मैंने कोढ़ी को पीठ पर उठाकर मेले के बाहिर चिकित्सा-केन्द्र में भरती करवा दिया। विदाई के समय कोढी ने अस्पष्ट आवाज में कहा—"बाबा ! मुझे मरने का आशीर्वाद दो। इस बात के साथ ही उसने देह को छोड़ दिया। पुलिस और चिकित्सक ने कहा—"बाबा जी ! अब जो करना होगा हम लोग कर लेंगे। आप कृपया चले जाइये। वहाँ से आकर नदी में स्नान करके सोमनाथ मन्दिर में योगी-साधुओं से बातचीत करके दूसरे दिन चाणोद पहुँच गया।

मैंने समझ लिया कि दुग्धेश्वर मन्दिर में दोनों गुरुओं के मिलने से पहिले आश्रम छोड़कर कहीं नहीं जाना। सर्व साधारण की समस्याओं के अन्दर अपने को डाल देना उचित नहीं है। तब से वहाँ रहने की अन्तिम तारीख तक चाणोद आश्रम में रहकर निष्ठा के साथ योग-साधना में ही मग्न रहा, क्योंकि बाहिर के साथ सम्बन्ध रहने से साधना में ढीलापन आ जाता है। क्रिया, योग, प्राणायाम, आसन, मुद्रा, धौती, नेति, बस्ति आदि क्रियाओं का अभ्यास करते हुए महीने के शेष दिन बिता दिये।

दुग्धेश्वर मन्दिर में—निर्धारित दिन में यथासमय श्मशान घाट में दुग्धेश्वर मन्दिर में पहुँचकर दोनों गुरुओं - स्वामी ज्वालानन्द पुरी और स्वामी शिवानन्द गिरि—के चरणों में उपस्थित हो गया। दोनों गुरुओं ने मुझे आशीर्वाद दिया। चाणोद आश्रम के सब ही समाचार मैंने उनको सुना दिये। स्वामी ज्वालानन्द पुरी ने कहा—"अब स्वामी शिवानन्द गिरि मुझे संयम की क्रियात्मक शिक्षा देंगे। संयम में तीन साधनाएँ हैं—धारणा, ध्यान, समाधि। योग-साधना के बहिरंग साधन—यम,नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार हैं और संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि योगसाधना के अन्तरंग साधन हैं।

स्वामी ज्वालानन्द पुरी के उपदेश और सारांश

प्रथम अंग धारणा*—धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों मिल कर संयम साधना है। ये तीनों मिलकर अन्तरंग साधना है। धारणा का तात्पर्य चित्त को एक स्थान में रखना है।*अर्थात् चित्त के अन्दर मात्र एक ही विषय की चिन्ता रखना। चित्त में बहुत देर तक एक ही विषय की रखने से और दूसरे विषय की नहीं आने देना धारणा है। किसी एक ही विषय की चिन्ता करते-करते चित्त में थोड़ी देर बाद दूसरे विषय के आ जाने से समझना चाहिये कि धारणा नहीं हुई, धारणा भंग ही गई। धारणा न होने से ध्यान नहीं होगा। ध्यान न होने से समाधि नहीं होगी। पहले धारणा है उसके बाद ध्यान है और ध्यान के बाद समाधि है। चित्त जब बहुत विषयों में न दौड़ता हुआ एक ही विषय में आबद्ध होता है, तब उसका नाम धारणा है। प्रत्याहार-साधना अच्छी प्रकार हो जाने से धारणा ठीक से अतिशीघ्र होती है। प्रत्याहार-साधना से चित्त केवल एक ही विषय में रह सकता है।

हम लोग चित को बाहिर या भीतर किसी स्थान पर आबद्ध रख सकते हैं। बाहिर का स्थान सूर्य, चन्द्र, समुद्र, वृक्ष लताएँ हैं और अन्तरंग विषय नाभि, हृदय, कण्ठ, वक्ष, जिह्वाग्र, नासिकाग्र भ्रूमध्य व शिरोदेश आदि हैं। ईश्वर निर्मित किसी दृश्य वस्तु या शब्द, ज्योतिः आदि धारणा का पलकहीन दृष्टि रखने का नाम त्राटक योग है। जब तक चक्षुओं में कष्ट अनुभव न हो तब तक स्थिर दृष्टि रखनी चाहिये। यथाशक्ति दीर्घ काल दृष्टि न रखकर जबरदस्ती दृष्टि रखने से आँखों की बीमारी हो जाती है। बहुत आदमी कहते हैं कि जब तक आँखों में आँसू नहीं निकलते तब तक दृष्टि स्थिर रखनी चाहिये लेकिन यह नियम खतरनाक है। चक्षु क्लान्त होने से ही आँखें बन्द करके उसी दृश्य की चिन्ता करनी चाहिये। प्रातः काल में या जाड़े के समय या ठण्डे समय में त्राटक योग का अभ्यास होना चाहिये। प्रतिदिन आँखों में शीतल पानी से छींटे देने चाहियें।

जो लोग शब्द योग से धारणा का अभ्यास करते हैं वे लोग कानों में अंगुलियों को डालकर चित्त को स्थिर करते हैं। कानों के अन्दर भौं-भौं की आवाज सुनी जाती है। वे लोग एकाग्र मन से उस आवाज को सुनते

* देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ यो० ३-१॥ (देखो—हुगली शास्त्रार्थ, ऋ० भा० भू० उपा०, स०प्र० ७ समु०)

हैं। दूसरे विषय में ध्यान नहीं देते। धीरे-धीरे सूक्ष्मतर शब्द सुना जाता है और आगे अभ्यास करने से अनाहत ध्वनि सुनी जाती है। इसी का दूसरा नाम 'बिन्दु' है।

इसी प्रकार किसी विषय में धारणा का अभ्यास करना चाहिए। इससे पहले चित्त को निर्मल करके, किसी एक योगासन को आयत्त करके, प्राण-गति अर्थात् श्वास-प्रश्वास को काबू में करके, शीत-ग्रीष्मादि-द्वन्द्व-सहिष्णु होकर किसी योगासन में सीधे होके बैठना चाहिए। इसके बाद इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से प्रत्याहार करके उनको चित्त में समर्पित कर देना, इसके बाद चित्त को किसी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु में धारण करना। ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे उसी वस्तु से चित्त हट न जाय। चित्त को बाँधने में समर्थ होने से और इसके स्थायी रूप से रखने में समर्थ होने से ही आगे जाकर वह धारणा ध्यान बन जायगा।

(२) संयम का द्वितीय अंग ध्यान*

धारणा में एकतानता आने से ही उसका नाम ध्यान है। खंड-खंड प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति का नाम ही धारणा है। धारणा जलबिन्दुओं की तरह खंड-खंड ज्ञान है और ध्यान तैल धारा की तरह एक स्रोत से प्रस्रवित एकतान या अखंड ज्ञान है। चित्त में चंचलता आने से धारणा खंड-खंड हो जाती है। ध्यान में चित्त की चंचलता नहीं रहती है और चित्त स्थिर हो जाता है। ध्यान होने से ही समझा जाएगा कि चित्त स्थिर हो गया। चित्त में आवरण और विक्षेप संस्कार जितने कम रहेंगे उतना ही ध्यान ठीक रूप से होगा। आवरण और विक्षेप आकर ही ध्यान को और समाधि को तोड़ देते हैं। एक तरफ से चिन्ता के संस्कारों को क्षीण करना और दूसरी तरफ ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक है। धारणा के समय धारणीय विषय में यदि प्रत्यय की या चित्तवृत्ति की एकतानता आ जाय तब ही उसका नाम ध्यान है। जिस वस्तु में तुमने बहिरिन्द्रियों को निरोध करके अन्तरिन्द्रियों को धारण किया है, उस वस्तु का ज्ञान अगर व्यवधान-हीन, अनवच्छिन्न और प्रवाहाकार होके प्रवाहित होता है तब उस रूप का मनोवृत्तिप्रवाह ध्यान नाम से अभिहित होता है।

---

* तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥यो. ३।२॥ (देखो—हुगली शास्त्रार्थ, ऋ. भा. भू. उपासना, स. प्र. ६ समु०-७)

(३) संयम का तृतीय अंग समाधि[1]

ध्येय विषय का अर्थ-मात्र निर्भास, स्वरूप शून्य-तुल्य ध्यान ही समाधि है। जप, धारणा, ध्यान, समाधि एक ही हैं। अवतरित जप करते-करते जप के गाढ़ और गंभीर होने से धारणा होती है। अविरत धारणा का अभ्यास करते-करते और धारणा के गाढ़ और गम्भीर होने से ध्यान होता है। अविरत ध्यान का अभ्यास करते-करते ध्यान के गाढ़ और गंभीर होने से समाधि होती है। धारणा में 'मैं ध्याता' 'मेरा ध्यान' और 'मेरे ध्येय इष्ट-देव' ये तीनों रहते हैं। ध्यान में 'मैं ध्याता' और 'मेरे ध्येय' ये दो रहते हैं। समाधि में मैं ध्याता यह भी नहीं रहता केवल ध्येय[2] ही रहता है। समाधि में अस्मित्व लीन हो जाता है, ध्येय में अस्मित्व लय को प्राप्त होता है। तब ध्येय विषय मात्र ही निर्भास होता है। ध्यान ध्येय अलग नहीं रहता एक हो जाता है। यह चित्त की सर्वोत्कृष्ट स्थिर अवस्था है। समाधि के बिना आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता है।

(४) संयम का स्वरूप[3]

एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा अव्याहत गति से लगातार सम्पन्न होने से उसको राजयोग की भाषा में संयम कहा जाता है। संयम बोलने से धारणा, ध्यान और समाधि एक के बाद दूसरा निरन्तर सम्पन्न होता है, यह समझना चाहिये।

(५) संयम-साधन से प्रज्ञालोक लाभ[4]

संयम परिपक्व होने से प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा के आलोक का लाभ होता है। प्रज्ञालोक अर्थात् प्रज्ञा का आलोक अर्थात् समाधि जात-प्रज्ञा का आलोक है। यह आलोक प्रकाशित होने से लौकिक ज्ञान और शक्ति लाभ होते हैं। चिन्तनीय विषय सब कुछ जाना जाता है। स्थूल दृष्टि से हम एक ही स्थान की एक ही वस्तु के स्वरूप को जान सकते हैं किन्तु समाधि ज्ञान से हम उस वस्तु के समग्र स्वरूप को जान सकते हैं।

---

१. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। (यो. ३-३।। देखो—ऋ. भा भू. उपासना, स. प्र. ७ समु०, हुगली शास्त्रार्थ,)

२. मैं ध्याता का भाव। अर्थात् 'मैं का भान'।

३. त्रयमेकत्र संयमः ।।यो. ३-४ ।। देखो—ऋ. भा. भू. पृ. २२८।

४. तज्जयात्प्रज्ञालोकः ।। यो. ३-५।।

हम किसी व्यक्ति की वर्तमान कार्य-प्रणाली और आचार-व्यवहार को देख कर उसके विषय में अति अल्प ही जान सकते हैं। प्रज्ञालोक के द्वारा हम उसी व्यक्ति के समग्र स्वरूप को पूर्वापर स्थिति को बहुत कुछ जान सकते हैं। इच्छा करने से ही जब संयम आ जायगा तब ही संयम-जय हो गया, यह कहा जा सकता है।

उस संयम को जय करने से अर्थात् श्वास-प्रश्वासादि को ऐसे स्वाभाविक या सम्पूर्णरूपेण आयत्त करने से सर्वभासक आलोक या बुद्धि का प्रकाश आ जाता है। यानी ज्ञान की शक्ति-विशेष का प्रादुर्भाव होता है।

संयम, उसका जय और उससे प्रज्ञा नामक ज्ञानालोक की प्राप्ति—इन तीनों बातों के अन्दर बहुत कुछ गुप्त तथ्य विद्यमान हैं। इनके प्रकृत तथ्य और शिक्षा-कौशल को केवल योगी लोग ही जानते हैं। प्राचीन योग भाषा के "संयम" शब्द को आजकल की भाषा में "इच्छा शक्ति" बोल सकते हैं। पतंजलि के राजयोग में पहले धारणा, इसके बाद ध्यान और इसके पश्चात् समाधि है। इस प्रक्रियात्रय के साथ तेजस्विनी निर्मला बुद्धि की सार इच्छाशक्ति अवश्य ही चाहिए। योगी शिक्षा द्वारा और अभ्यास से उन तीनों प्रक्रियाओं को जय कर लेते हैं। इसी का नाम है स्वात्मीकरण।

संयम से स्वात्मीकरण क्या है—स्वाभाविक रूप से कार्य करने का नाम आयत्तीकरण या स्वात्मीकरण है। श्वास-प्रश्वास जैसे स्वाभाविक और स्वात्मीकृत्य करने में क्लेश नहीं होता है ऐसे ही यदि संयम कार्य विना क्लेश के सम्पन्न होता है तब जानना चाहिए कि 'संयम-सिद्धि हो गयी है। एवंविध संयम-सिद्ध योगी का संकल्प या इच्छा-प्रयोग अमोघ है। "संयमात् प्रज्ञालोकः" इस सूत्रभाव को देख कर यह नहीं समझना चाहिए कि संयम से केवल ज्ञान-विकास ही होता है, दूसरा कुछ नहीं होता है। उनके संकल्प से सब कुछ सिद्ध होता है जो कुछ जीवों के लिए सम्भव है। ज्ञान-शक्ति की वृद्धि होने से क्रियाशक्ति भी बढ़ जाती है यह तो अव्यभिचारी नियम है। भूतजय, प्रकृति वशित्व, अणिमादि ऐश्वर्य संयम प्रभाव की अज्ञात शक्ति से साबित होते हैं। संयम के द्वारा इच्छाधिकार पूर्ण होता है। संयम के अन्दर महाशक्ति छिपी हुई है।

संयम-साधन के समय योगी प्रथम स्थूल विषयों पर संयम प्रयोग

करें।* पीछे धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विषयों पर संयम-प्रयोग करें। स्थूल अवलम्बन छोड़कर पहले ही सूक्ष्म अवलम्बन नहीं लेना चाहिए। योग शास्त्रों में क्रमिक भूमियों के नाम सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार हैं। योगी संयम के द्वारा विविध ऐश्वर्य और अलौकिक क्षमता प्राप्त करते हैं। लेकिन किस विषय के लिये कैसे संयम का प्रयोग होना चाहिए, कहाँ किस प्रकार का संयम हो, कौन से संयम के कौन से फल हैं, उनको और विविध चित्त परिणामों के विभिन्न विकार-भावों को भी प्रत्यक्षवत् अधिगत कर लेना चाहिए। चित्त व्युत्थान में, निरोध में और एकाग्रता में किस रूप से रहता है, इसके परिणाम और परिवर्तन किस प्रकार के होते हैं यह सब कुछ निपुणता के साथ लक्ष्य करना चाहिए। निरोध-काल की चित्तावस्था या चित्त परिणाम जानना बहुत ही जरूरी हैं। इन सूक्ष्म तत्त्वों की शिक्षा बहुत ही ध्यान से ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीमत् स्वामी शिवानन्द गिरि का उपदेश—योग विद्या की शिक्षा के लिये एकाग्रता का प्रयोजन है। एकाग्रता सीखने से पहले चित्त को निर्मल बनाना चाहिये। मलिन चित्त योगविद्या-शिक्षा के लायक नहीं है। सूक्ष्म वस्तु ग्रहण करने में मलिन चित्त असमर्थ होता है, स्थिर और समाहित नहीं होता है और विलिप्त हो जाता है। स्वच्छ शीशा अगर मलिन हो जाय तो उस में दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा। आकर्षण में सूक्ष्म चुम्बक में भी मलिनता रहने से आकर्षण करने की क्षमता से वह वंचित हो जाता है। ठीक उसी तरह चित्त मलिन रहने से सूक्ष्म तत्त्व के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। रजः तमः गुणों से उत्पन्न ईर्ष्या और द्वेषादि ही चित्त की मलिनता है। मलिनता उन्मार्जित न होने से चित्त प्रकाशमय और उज्ज्वल नहीं होता है। इस लिये ही पहले चित्त को मलिनता से मुक्त करके तब समाधि के अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिये।

चित्त को निर्मल करो★

चित निर्मल होने से एकाग्र-शक्ति की वृद्धि होगी। दूसरे के सुख

---

* तस्य भूमिषु विनियोगः ॥यो. ३-६॥

—सूक्ष्म विषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम् ।१-४५॥ देखो स. प्र.७. समु० पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को गुण कर्म स्वभाव से जाने ॥

★ मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥(यो. १-३३ ॥ देखो ऋ. भा. भू. उपा०)

देख कर सुखी हो जाओ, ईर्ष्या मत करो; अर्थात् मुदित साधन का अभ्यास करने से तुम्हारे चित्त से ईर्ष्या-मल दूर होगा। जैसे तुम सर्वदा अपने दुःखों का निवारण करना चाहते हो ऐसे ही तुम दूसरे के दुःखों को दूर करने की इच्छा करते रहो। दूसरे के दुःख में दुःखी होने की शिक्षा लेने से तुम्हारे अन्दर विद्वेष-मल नहीं रहेगा। दूसरे के प्रति अपकार करने की इच्छा भी तुम्हारे अन्दर नहीं रहेगी। अपने पुण्य में या अपने शुभानुष्ठान में जैसे हर्षयुक्त होते हो वैसे ही दूसरे के शुभ अनुष्ठान में हर्षयुक्त हो जाओ। दूसरे के पुण्य में और शुभानुष्ठान में हर्षयुक्त होने से तुम्हारे मन से असूया-मल नष्ट हो जायेगा। दूसरे के पाप देख कर उसके प्रति द्वेष मत करो। पाप के प्रति द्वेष करो। घृणा को पाप के प्रति रखो। पापी के प्रति नहीं। सर्वतोरूप से उदासीन रहो, तब तुम्हारे चित्त से अमर्ष-मल दूर हो जायगा। सुखी के प्रति मैत्री, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति मुदिता या प्रेम और पापी के प्रति उपेक्षा या औदासीन्य रखो। हर एक राजस और तामस वृति के विरुद्ध सात्त्विक-वृत्तियों का उदय होगा। इस रूप से तुम्हारा चित्त धीरे-धीरे निर्मल हो जायगा और अच्छी तरह एकाग्र-शक्ति-सम्पन्न हो जाओगे।

चित्त को एकतान करो—प्राण वायु को आकर्षण करके धारण करना और वर्ज्जन करना इस प्रक्रिया के द्वारा भी चित्त को एकतान किया जा सकता है। पहले गुरु के उपदेश और शास्त्र विधि के अनुसार नासिका से बाहर के वायु को आकर्षण करके, परिमित रूप से उसको भीतर ही धारण करो और नियमित रूप से उसको छोड़ दो। इसी का नाम प्राणायाम है*। प्राण+आ+यम्=प्राण को सम्यक् संयत अर्थात् इच्छानुरूप निरोध करना। प्राण यदि इच्छाधीन हो जाए तब तो चित्त को आसानी से अनाकुल और स्थिर किया जा सकता है। क्योंकि सब ही इन्द्रिय-कार्य प्राण के आधीन हैं। प्राण ही श्वास-प्रश्वासरूप गति को अवलम्बन करके सब देह-यन्त्रों को परिचालित कर रहा है। विभिन्न इन्द्रियों को भिन्न २ कार्यों में प्रेरणा दे रहा है। खाद्य वस्तुओं को रक्ताकार में परिवर्तित करके हर एक देह-यन्त्र के स्वास्थ्य, बल और स्वभाव की रक्षा कर रहा है। प्राण ही इन्द्रिय चक्र, नाड़ी चक्र और मन का परिचालक है

* तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ (यो० २-४९॥ देखो—ऋ. भा. भू. उपासना)

और प्राण ही मन की चंचलता का प्रधान कारण है। प्राण की गति से मन की गति, प्राण के निरोध से मन का निरोध और प्राण की स्थिरता से मन की स्थिरता होती है। प्राण-गति के दोष से मनकी गति दोष-युक्त होती है। प्राणगति अगर अवरुद्ध हो जाय तो मन के दोष भी निवारित हो जाते हैं। काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य आदि जो कुछ मनो-दोष जो कुछ विक्षेप—सब प्राणदोष के दोष से उत्पन्न होते हैं। इस गूढ़ रहस्य को भारतीय योगी लोगों ने आविष्कृत किया था। इस लिए ही उन्होंने प्राणायाम का उपदेश दिया है। यह प्राणायाम अगर सुसिद्ध हो जाय, आयत्त हो जाय तो मनके सब विक्षेप दूर हो जाते हैं। निर्दोष और निर्विक्षेप चित्त अपने आप ही सुप्रसन्न, सुप्रकाशित और एकाग्र हो जाता है।

निर्दोष चित्त से दिव्यज्ञान-लाभ—चित्त निर्मल हो जाने से उसको हर एक विषय में नियुक्त किया जा सकता है और उसको यथेच्छ तन्मय किया जा सकता है। उससे सब ही वस्तुओं का साक्षात्कार हो सकता है। अगर चन्द्र या सूर्य में निर्मल चित्त को स्थापन करोगे तो चन्द्र में या सूर्य में ही वह तन्मय हो जायगा और चन्द्र तत्त्व या सूर्य तत्त्व का साक्षात्कार कर सकोगे। इसी का नाम दिव्यज्ञान और इसी का नाम योगज-प्रज्ञा है। शिक्षार्थी योगी लोग पहले देह के प्रति मनोनिवेश करते हैं और वे लोग दैहिक तत्त्वों की मानस चक्षु से बहुत सी उपलब्धि करते हैं। इसी प्रकार नासाग्र में चित्त संयम करके दिव्यगंध, जिह्वाग्र में चित्त संयम करके दिव्य रस ज्ञान, तालवग्र में दिव्य रूप, जिह्वा के मध्य में दिव्य स्पर्श और जिह्वा-मूल में दिव्य शब्द के अनुभव होते हैं।[1] इसी रूप से जिस किसी वस्तु में या स्थूल विषय में चित्त संयम करके योगी लोग उस उस विषय का दिव्यज्ञान प्राप्त करते हैं। इसको स्वयं अनुभव करके ये लोग धीरे-धीरे सूक्ष्मादपि सूक्ष्म विषय में[2] भी चित्त संयम करके उस विषय के सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं।

विशोका ज्योति का अनुभव[3]

उदर-कन्दर के ऊपर की तरफ हृदय-पिंजर के भीतर एक मांस-

---

१. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थिति निबन्धनी ॥ यो. १-३५॥ देखो—हुगली शास्त्राथ, व्यासभाष्य में विस्तृत व्याख्या है।

२. सूक्ष्मम च्चालिंग पर्यवसानम् ॥यो०समाधिपाद।

३. विशोका वा ज्योतिष्मती ॥१-३६॥

पिण्ड है, उसका आकार लगभग कमल के सदृश है इस लिये उसका नाम हृत्पद्म है। इस हृत् कमल को रेचक प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वमुख भावना करके उसके पीछे चित्त को धारण करने से एक प्रकार की ज्योति या आलोक का अनुभव होता है। उस ज्योति की तुलना नहीं है वह उस तरंगहीन और निःशब्द समुद्र के समान प्रशान्त और मनोरम है, निर्मल और सुशुभ्र है। उसमें सूक्ष्म रूप से क्षण-क्षण में सूर्य-प्रभा, चन्द्र-प्रभा, मणि-प्रभा और अन्यान्य अनेक प्रभा स्फुरित होने में देखी जाती हैं। इस आलोक या ज्योति के मनोगोचर होने से किसी प्रकार का शोक नहीं रहता है। इसलिये इस आलोक को "विशोका" बोला जाता है। इस विशोका ज्योति का दूसरा नाम बुद्धि सत्त्व और चैतन्य प्रदीप्त अस्मिता (सात्त्विक अहंकार) है। चित्त हृत्कमल के अन्दर बुद्धि-सत्त्व के ध्यान में निमग्न होने से अति शीघ्र सम्प्रज्ञात समाधि या अति उत्कृष्ट योग उत्पन्न होता है।

एकाग्रता-शिक्षा—जिह्वामूल, जिह्वाग्र, तालवग्र, हृत्पद्म, तत्कर्णिकागत नाड़ी चक्र और उसके पीछे के बुद्धिसत्त्व में चित्त संयम करने से जैसी एकाग्रता सिद्ध होती है ऐसे वीतराग महापुरुषों के चित्तों में संयोग[1] करने से भी एकाग्रता आ जाती है।

एकाग्रता सीखने के लिए किसी मनपसन्द वस्तु[2] या विषय पर ध्यान करना चाहिये। इससे तुम्हारे चित्त में एकाग्रता शक्ति की वृद्धि होगी और इसके अनन्तर ध्येय पदार्थ में चित्त की स्थिरता का अभ्यास करना चाहिए और उसमें अभ्यस्त होने पर तुम जहाँ इच्छा हो एकाग्र हो सकोगे। अन्तर्जगत् के नाड़ी चक्र हो या बहिर्जगत् के चन्द्र-सूर्य हों स्थूल हों या सूक्ष्म हों, सर्वदा और सर्वत्र ही चित्त को तन्मय कर सकोगे। लेकिन ऐसी वस्तु या ऐसे विषय पर चित्त-संयम मत करो जिसको देखने से या चिन्तन करने से मन चंचल होता है। इस रूप से किसी वस्तु या विषय पर चित्त स्थिर होने से सूक्ष्म परमाणु[3] से लेकर बृहत्तम परमात्मा तक सब विषय ही योगी के लिए ग्रहणीय, प्रकाशित और वशीभूत होते हैं।

---

१. वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥ १ ३७ ॥
२. यथाभिमतध्यानाद्वा। १-३९
३. परमाणु परममहत्तत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ १ ४० ॥

निर्मल चित्त—वृत्तिहीन चित्त स्फटिक मणि के समान तन्मय भाव को धारण करता है। जिस रंग की वस्तु में स्फटिक रखा जाता है उसी रंग से वह रंजित हो जाती है। ठीक उसी तरह निर्मल चित्त जिस वस्तु में या विषय में अर्पित होता है, उसी वस्तु में चित्त समासक्त, स्थिर और तन्मय हो जाता है।*

एकाग्रता-शिक्षा के नियम—एकाग्रता-शिक्षा का नियम यह है कि पहले इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ के अवलम्बन से एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञेय वस्तु दो प्रकार के हैं? स्थूल और सूक्ष्म। पहले स्थूल में और पीछे सूक्ष्म में अभ्यास होना चाहिये। पहले स्थूल वस्तु में चित्त को स्थिर करना चाहिए। उसमें अभ्यस्त होने के बाद क्रमानुसार मन बुद्धि, अहंकार आदि आभ्यन्तरीण वस्तु का अवलम्बन करना चाहिये। इन्द्रियों में चित्त स्थिर हो जाने के बाद अस्मिता में या जीवात्मा में एकतान होना चाहिये। अन्त में परमात्मा में मनोलय करना चाहिए। इस प्रकार परम्परा-क्रम से अग्रसर होना चाहिये। **झट परमेश्वर में समाहित होना असम्भव** है जब देखोगे कि तुम्हारा चित्त कहीं भी प्रतिहत नहीं होता है सर्वत्र ही स्थिर हो जाता है, तब तुम जानोगे कि तुम्हारा चित्त वशीभूत हो गया है। तब तुम्हारे चित्त को वशीभूत करने के लिये विशेष उपाय का अवलम्बन नहीं करना पड़ेगा। किसी प्रकार का अनुष्ठान भी नहीं करना होगा।

सवितर्का समापत्ति★

एकाग्र चित से विषय-चिन्ता करने से जो तन्मय-भाव आ जाता है उसी का नाम समापति है। स्थूल वस्तु का अवलम्बन कर ध्यान करने से दो प्रकार की समापत्ति होती है-१. संवितर्का २. निर्वितर्का। जहाँ शब्द अर्थ और ज्ञान ये तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं वहाँ सवितर्का **समापत्ति है**। यह **मिश्रित ज्ञान है** यह विशुद्ध निर्मल ज्ञान नहीं है। "तर्क" का मतलब शब्दमय चिन्ता है। 'गौ" यह शब्द केवल शब्दमात्र ही है। इसका अर्थ या ज्ञान सम्पूर्ण पृथक् है "गो" शब्द का आश्रय वाग् यन्त्र है क्योंकि यह

---

* क्षीण वृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता-समापत्तिः ॥यो. १-४१॥

★ तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः (१-४२॥ देखो स.प्र.६ स.)

शब्द वाग्यन्त्र के द्वारा उच्चारित होता है। "गौ" शब्द का अर्थ (पदार्थ) चतुष्पद पशु है और यह गोशाला में रहता है। इसका आश्रय स्थल गोशाला है। "गौ" शब्द से जाना जाता है कि यह दूध देती है या भार-वहन करती है। यह ज्ञान हमारे चित्त में रहता है। "गौ" शब्द का आश्रय-स्थल वाग्यन्त्र है, अर्थ का आश्रय-स्थल गोशाला है और ज्ञान का आश्रय-स्थल चित्त है। शब्द-अर्थ और ज्ञान सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं। लेकिन यह सब स्वतन्त्र होने पर भी हम लोग तीनों को मिश्रित रूप से व्यवहार करते हैं इन तीनों को एक ही विषय समझ लेते हैं। इस रूप से तीनों विषयों को अर्थात् शब्द, अर्थ, ज्ञान को एक समझकर जो ध्यान या चिन्ता की जाती है उसी का नाम सवितर्का समापत्ति है।

निर्वितर्का समापत्ति*

हमारी स्मृति में शब्द और अर्थ के एक साथ मिले रहने से उस स्मृति से हमारा वस्तु विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। लेकिन अगर हम शब्द को स्मृति से हटा सकते हैं तो हमारी स्मृति के शुद्ध होने से हमारे अन्दर अर्थ विषय का शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। शब्द अर्थ एक साथ मिलाके जो ध्यान होता है वह सवितर्का और केवल अर्थ का जो ध्यान उसका नाम निर्वितर्का समापत्ति है। निर्वितर्का समापत्ति में स्थूलभूत का सूक्ष्म ज्ञान होता है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध (सूक्ष्म) भूत हैं। हम लोग साधारणतः स्थूल भूतों को ही ग्रहण करते हैं। इनके सूक्ष्मांश गृहीत नहीं होते हैं। निर्वितर्का समापत्ति में स्थूल भूतों के सूक्ष्मतम अंश का प्रत्यक्ष होता है। स्थूल भूतों का यह ही सबसे ज्यादा सूक्ष्मांश है। इसी का नाम तन्मात्रा है। यथा शब्दतन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा। इन सब तन्मात्राओं से स्थूलभूतों की सृष्टि हुई है। तन्मात्र ज्ञान ही सत्य ज्ञान है और स्थूल भूतों का ज्ञान भ्रान्तिज्ञान है। हम लोग स्थूल भूतों को जिस रूप से देखते हैं वास्तव रूप से वे ऐसे नहीं हैं। ये तो सब तन्मात्राओं का समष्टि-ज्ञान है।

इस प्रकार के भ्रान्ति-दर्शन के कारण ही हम लोग विषयों में आसक्त होते हैं। जब यह भ्रान्ति-दर्शन हट जाते हैं और सत्य दर्शन होते हैं तब विषयों में आसक्ति भी कम हो जाती है। सूक्ष्म भूतों के दर्शन से

---

* स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ॥ यो, १-४३॥

जो सुख और आनन्द होते हैं वे स्थूल भूतों के दर्शन के सुख और आनन्द से कोटि गुणा अधिक हैं। इस लिये ठीक-ठीक विषयासक्ति छोड़ने के लिये ध्यान और समाधि के द्वारा सूक्ष्मभूत दर्शन जरूरी है। इस रूप से तन्मात्र दर्शन को निर्वितर्क समापत्ति बोला जाता है। हमारी स्मृति परिशुद्ध न होने से यह सूक्ष्म-दर्शन नहीं होता है। स्मृति के अन्दर शब्द और अर्थ ये उभय ज्ञान रहने से स्मृति मलिन रहती है। इस लिये अभ्यास के द्वारा केवल अर्थ मात्र की ही चिन्ता की जा सकती है और वह अर्थ-चिन्ता गम्भीर होते-होते अर्थ की तन्मात्रा का दर्शन होता है। केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से जो ज्ञान होता है वह यथार्थ ज्ञान है। केवल अर्थ से जो ज्ञान होता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। इन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान से जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है, ध्यान और समाधि से जो ज्ञान होता है वह ही यथार्थ ज्ञान है।

धर्म के बारे में भी एक ही बात है। धर्म के बारे में केवल श्रवण और मनन करने से यथार्थ धम का ज्ञान नहीं होता है। ध्यान और समाधि से परोक्ष दर्शन होने से यथार्थ धर्म का ज्ञान होता है। धर्मज्ञान निदिध्यासन से ही ठीक-ठीक होता है।

सविचार और निर्विचार समापत्ति❀

स्थूल अवलम्बन से सवितर्का समापत्ति और निर्वितर्का समापत्ति होती है लेकिन सूक्ष्म अवलम्बन से सविचार और निर्विचार समापत्ति होती है। इन चारों समापत्तियों सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों का एक नाम है सबीज समाधि।

सबीज समाधि★

इनमें सवितर्क समाधि निकृष्ट है, उससे निर्वितर्क समाधि श्रेष्ठ है। उससे सविचारा समाधि और उससे निर्विचारा समाधि श्रेष्ठ है। इस उत्कृष्ट निर्विचारा की योग-साधना में अभ्यस्त और सिद्ध होने से ही चित्त का स्वच्छ स्थिति प्रवाह दृढ़ होता है। इससे किसी प्रकार का दोष, क्लेश या मालिन्य नहीं रहता है। सर्वप्रकाशक चित्त-सत्व तब नितान्त निर्मल होता है। आत्मा तब जानी जाती है। इसी का नाम अध्यात्म विज्ञान है❀❀

❀ एतयैव सविचारा-निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥यो. १-४४॥ देखो—स. प्र. ६ समु०

★ ता एव सबीजा समाधयः ॥१-४६॥

❀❀ निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ यो. १-४७॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा❀

समाधिज ज्ञान आने से उत्कृष्ट और निर्मल प्रज्ञा या ज्ञानालोक आविर्भूत होता है उसी का नाम "समाधि प्रज्ञा" है। यह प्रज्ञा केवल ऋत अर्थात् सत्य को ही प्रकाशित करती है। उस समय विन्दु मात्र भ्रम भी नहीं रहता है। योगी लोग इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा सब वस्तुओं का यथावत् साक्षात्कार करते हैं और चरम स्थिति निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होते हैं और निर्विकल्प समाधि प्राप्त होकर मुक्त होते हैं।

निर्बीज समाधि★

यह सम्प्रज्ञात वृत्ति भी जब अवरुद्ध हो जाती है तब सर्व-निरोधात्मक निर्बीज समाधि उत्पन्न होती है। दीर्घ समय तक योगी निरोध अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास के बल से योगी का वह शेष अवलम्बन मात्र भी अवरुद्ध या विलीन हो जाता है। चित्त जिस बीज का अवलम्बन करके रहा था अब वह भी नष्ट हो जाता है। इस लिए अब निर्बीज समाधि हो गयी। निर्बीज समाधि जब परिपक्व स्थिति को प्राप्त होती है तब ही चित्त अपने उत्पत्ति-स्थान प्रकृति का आश्रय करता है। प्रकृति स्वतन्त्र होगी और सच्चित् प्रकाश पुरुष भी प्रकृति के बन्धन से मुक्त होगा। जन्म-मरण और सुख-दुःख भोग नहीं होगा। भोगायतन शरीर भी तब नहीं रहेगा।

समाधि-सिद्धि के लिये क्रिया योग का अनुष्ठान आवश्यक है। अध्यवसाय के साधन करने से सिद्धिलाभ अनिवार्य है।

चित्त-भूमियाँ—चित्त के स्वाभावानुसार हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। हम सत्त्व गुण से सुख का, रजोगुण से दुःख का और तमः गुण से मोह का अनुभव करते हैं। चित्तभूमियाँ पाँच प्रकार की हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।❀❀

❀ ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥१-४८॥

★ तस्यापि निरो सर्वंधे निरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥१-५१॥

❀❀ क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते"—व्यास भाष्य—१-१०

(१) **क्षिप्तभूमिक चित्त**—यह सदा चंचल है । जिसका चित्त जितना अधिक चंचल होता है वह उतना ही अधिक पाप करता है और दुःख का अनुभव करता है। चित्त में रजः और तमः गुण अधिक होने से चित्त क्षिप्त होता है। क्षिप्त चित्त या मन किसी एक विषय पर स्थिर नहीं रह सकता। एक ही विषय पर मन रखने से चित्त को सुख नहीं मिलता। सुख के लिये वह पहले एक विषय ले लेता है और फिर थोड़ी देर बाद ही दूसरे विषय को ले लेता है, फिर वहाँ भी सुख न पाकर दूसरे विषय को ले लेता है। क्षिप्त-चित्त मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता।

(२) **मूढ़भूमिक चित्त**—ये लोग निर्बोध होते हैं। ये लोग किसी कार्य में भी उन्नति नहीं कर सकते हैं। इनकी बुद्धि मलिन होती है। देह के सुख को ही ये लोग सुख समझते हैं, पारमार्थिक ज्ञान ये लोग नहीं रखते हैं। पशु-जीवन को ही ये लोग अच्छा समझते हैं। पशुवृत्ति, आहार, निद्रा, काम-क्रोधादि लेकर ही ये लोग जीवन चलाते हैं। जगत् में मूढ़-भूमिक चित्त वाले मनुष्य अधिक हैं।

(३) **विक्षिप्तभूमिक चित्त**—ये लोग क्षिप्त और मूढ़ से श्रेष्ठ हैं। ये अपने चित्त को अधिक समय तक किसी विषय पर संयुक्त रख सकते हैं। ये लोग साधारण श्रेणी के साधक होते हैं। ये लोग साधना करके एकाग्र-चित्त हो सकते हैं और क्रमशः चित्त को निरुद्ध करके कभी जीवन को सफल भी कर लेते हैं। ये लोग ही मानव श्रेणी के हैं। इनकी संख्या बहुत ही अल्प है।

(४) **एकाग्रभूमिक चित्त** जो चित्त एक को अवलम्बन करके रहता है, उसी को एकाग्र बोला जाता है। साधन, भजन, गृहकर्म, ग्रन्थ-पाठ, समाज सेवा, राजनीति, साहित्य सेवा आदि सब कार्यों में ये लोग एकाग्र-चित्त हैं। ऐसे लोगों की संख्या कम है।

(५) **निरुद्धभूमिक चित्त**—एकाग्रचित्त में जो एक मात्र अवलम्बन था, निरोधभूमिक चित्त में वह भी नहीं रहता है। जब चित्त के अन्दर चिन्ता भी नहीं उठती है तब उसको निरोध चित्त बोला जाता है। निरोध चित्त ही मुक्त की ओर धावित होता है।

चित्त की इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं के अन्दर पूर्व तीन प्रकार के चित्तों के साथ योग का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परवर्ती दो चित्त एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त ही योगानुकूल हैं।

प्रणव जपोपासना—प्रणव मन्त्र अर्थात् ओंकार का जप और साथ-साथ उसके अर्थ का ध्यान करना ही उपासना है।* **योगी लोग साधारणतः ईश्वर की दूसरी तरह उपासना नहीं करते हैं। केवल प्रणव मन्त्र का वाचिक और मानसिक जप और उसका अर्थ ध्यान करते हैं।** जब ये लोग वैषयिक कार्य करते हैं तब भी उनका जप और ईश्वरोपासना बन्द नहीं होती है। प्रणव मन्त्र के जप और प्रणव मन्त्रार्थ का ध्यान करते-करते उनका चित्त उसी में निविष्ट और एकाग्र हो जाता है और क्रमशः समाधि भी आ जाती है। सर्वदा प्रणव जप और प्रणवार्थ करते-करते जब चित्त निर्मल हो जाता है तब उनको प्रत्यक्-चैतन्य अर्थात् शरीरान्तर्गत आत्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। तब किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता और निर्विघ्न रूप से समाधि-लाभ होता है।

प्रणव अर्थात् **ओंकार का जप ही सर्वश्रेष्ठ जप है।** प्रणव का वाच्य ईश्वर है और ईश्वर का वाचक अर्थात् नाम प्रणव ओम् है। हम लोग स्थूल शब्द के प्रति प्रीति रखते हैं। इसलिये स्थूल शब्द के द्वारा उनको पुकारते हैं। स्थूल मन्त्रशब्द के उच्चारण और मन्त्रार्थ की चिन्ता करते-करते हमारा स्थूल के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और क्रमशः सूक्ष्म की धारणा-शक्ति वर्धित होती है। सूक्ष्म के लिए धारणा शक्ति नहीं रहने से सूक्ष्म भगवद्भाव का ग्रहण असम्भव है। सूक्ष्म भगवान् के ध्यान के लिये अति सूक्ष्म रूप से प्रणव ओंकार का जप और मन्त्रार्थ ध्यान का विधान रखा गया है। जप और अर्थ-चिन्तन से चित्त निर्मल और शुद्ध होता है, हम सूक्ष्म ध्यान के अधिकारी होते हैं।

केवल भगवद्भाव जानने से ही जीवन चरितार्थ नहीं होता है। भगवद्भाव में तन्मय होने से ही जीवन कृतार्थ होगा। मन्त्र-जप करने से इष्ट देवता तुष्ट होती है यह तो साधारण मनोभाव है। इष्टदेव हमारे प्रति चिर प्रसन्न हैं। मलिन चित्त में भगवान् के प्रसन्न भाव की धारणा

---

* तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥यो. १ २८ ॥ देखो—ऋ. भा. भू. उपा.। ओंजप के एक हजार प्रमाणों के लिए हमारी लिखी ओंकार जपोपासना योग देखें। स्तुता मया वरदा वेदमाता भी ओं जप का विधान करता है—देखो—सत्यार्थ प्रकाश के संशोधनों की समीक्षा तथा हमारी लिखी पातञ्जल योग साधना ऋषि ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ओंजप ही लिखा है।

नहीं होती है चित्त जितना ही शुद्ध होता जायेगा उतना ही उसको प्रसन्नता का अनुभव होता रहेगा। जप करके जिसको आनन्द का अनुभव नहीं होता, जान लो उनका मन मलिन और चंचल है। विषयासक्ति ही मलिनता है। विषयाशक्ति जितनी कम होती जायेगी, ईश्वरभक्ति उतनी ही बढ़ती जायेगी। जब विषयासक्ति नहीं रहेगी तब ईश्वरभक्ति पूर्ण हो जायेगी। तब ईश्वर में मन निमग्न हो जायेगा और समाधि-लाभ होगा।

पहले-पहले जप और ध्यान टूट जाता है। इसमें निराशा का कोई कारण नहीं है। धैर्य के साथ जप और उसके अर्थ-भावना या ध्यान करने से आत्म-चेतना का उदय होगा। इसी का नाम है—'प्रत्यक् चेतनाधिगम"।* तब विषय-भोग में अरुचि आजायेगी। पीछे विषय-भोग में कष्ट होगा। मन्त्र का जप, ईश्वर का ध्यान और समाधि-साधना ही तब अच्छी लगेगी। विषय के प्रतिकूल और चैतन्य के अनुकूल रूप में जब चित्त धावित होता है तब ही उसका नाम "प्रत्यक्-चेतना" है।

ओंकार जप ही श्रेष्ठ जप है। ओंकार के जप में शारीरिक चांचल्य बिल्कुल नहीं होता है। **शरीर निश्चल और स्थिर नहीं होने से ध्यान या समाधि की स्थिति नहीं आती है।**

व्यंजन वर्ण के उच्चारण में हमें दन्त ओष्ठ आदि की सहायता लेनी पड़ती है अर्थात् उन सब स्थानों में क्रियायें होती हैं। क्रिया होने से ही वह सब स्थान चंचल होते हैं।

मानसिक जप से उन सब स्थानों में क्रिया नहीं होतीं। यह बात ठीक है लेकिन भीतर में मानसिक स्रोत की क्रिया और चंचलता जरूर रहती है।

१. ओंकार के जप में वह चंचलता भी नहीं रहती है।

२. ओंकार-जप एकतान के रूप में आसानी से होता है। दूसरा जप एकतान से नहीं होता।

३. स्वर वर्ण का जैसे एकतान से उच्चारण होता है व्यंजन वर्ण का वैसा उच्चारण असम्भव है। व्यंजन वर्ण के उच्चारण में अत्यधिक वाक् शक्तियों का व्यय होता है।

* ततः प्रत्यक् चैतन्याधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। यो. स. पा.

४. ओंकार के अन्त में "म्" है। वह "म्" कार का शब्द है। वह भी विना प्रयत्न के एकतान से उच्चारित होता है।

इसलिए चित्त का एकतान करने के लिए "ओम्" शब्द सबसे श्रेष्ठ है। इसके उच्चारण में दन्त या ओष्ठादि की सहायता की अपेक्षा नहीं है।

इन सब कारणों से **ओंकार का जप सर्वश्रेष्ठ** समझा जाता है।

यह जप श्वास-प्रश्वास के साथ भी किया जा सकता है। प्रति-श्वास और प्रश्वास के साथ जप करने में भी अर्थ-भावना की जरूरत है।

जिसके साथ हम दीर्घ काल तक रहते हैं वह अपना हो जाता है। ओंकार-जप और अर्थ-भावना से ईश्वर का संग होता है और दीर्घकाल तक जपोपासना करने से ईश्वर अपना बन जाता है, अर्थात् ईश्वर के साथ प्रेम और प्रीति का सम्पर्क स्थापित हो जाता है। जिसके संग में हम लोग रहते हैं उसके गुण भी हमें प्राप्त होते हैं। हमारा चित्त यदि भगवत्-चिन्तन में निमग्न रहे और भगवान् के नाम और उसके मर्मार्थ का स्मरण करे अर्थात् निरन्तर जप करे तो हमारी चेतना विषयों को छोड़कर ईश्वराभिमुखीन हो जायेगी। यह ही "प्रत्यक् चेतना" है।

पंचक्लेश❀

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पंच क्लेश ही मनो-धर्म हैं। ये मनोधर्म मिथ्या-ज्ञान ही हैं। यह पाँच प्रकार का क्लेश नामक मिथ्याज्ञान जिससे संचित नहीं हो सके और संचित मिथ्या-ज्ञान जिससे दग्ध हो सके इसके लिए यत्न करना ही योग-साधकों के लिए सर्वप्रधान कर्त्तव्य है।

पंच क्लेशों में अविद्या नामक प्रथम क्लेश परवर्ती चार क्लेशों की उत्पत्ति का मूल है।★ ये सब क्लेश सदा एक रूप से नहीं रहते हैं। कोई प्रसुप्त रूप में, कोई सूक्ष्म रूप में, कोई विच्छिन्न रूप में और कोई उदार या स्पष्ट रूप में चित्त-क्षेत्र में रहता है।

❀ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पंच क्लेशाः। (यो० २-३। देखो—ऋ० भा० भू० पृ० २३३। स०प्र० ६, ११ समु०)

★ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् प्रसुप्त तनू-विच्छिन्नोदाराणाम् ॥यो० २-४।

क्लेश की प्रसुप्त अवस्था—

लीन भाव में, शक्ति रूप में या प्रसुप्त रूप में रहना—ये सब एक ही बात हैं। बीज के अन्दर वृक्ष-शक्ति जिस प्रकार प्रसुप्त-लीन होकर या छिपके रहती है उसी प्रकार रहने का नाम ही प्रसुप्त अवस्था है। प्रकृति-लय और विदेह-लय योगियों के चित्त में क्लेश रहता है, लेकिन वह बीज में वृक्ष-शक्ति जिस प्रकार रहती है उसी प्रकार रहता है। बीज में जैसे अंकुरोद्गम होता है योगियों के प्रसुप्त क्लेश से ऐसे ही पुनः संसार का अंकुरोद्गम होता है।

क्लेश की तनू अवस्था

सूक्ष्म और तनू एक ही बात है। सूक्ष्म शब्द का मतलब यहाँ संस्कार का अभाव है। यह तनू क्लेश दग्ध बीज की तरह शक्तिहीन है।

क्लेश की विच्छिन्न अवस्था—

विच्छिन्न और विच्छेद-प्राप्त एक ही बात है। किसी एक वस्तु के प्रबल होने से दूसरी वस्तु का ह्रास हो तो उसका नाम विच्छिन्न अवस्था है। लोभ के समय क्रोध अभिभूत रहता है। क्रोध की वह विच्छिन्न अवस्था है।

क्लेश की उदार अवस्था—

उदार और परिपूर्ण एक ही बात है। विस्पष्ट या उज्ज्वल स्थिति में जब क्लेश रहता है तब उसकी उदार अवस्था है। उदार अवस्था में क्लेश ठीक रूप से अपने कार्य को करता है।

योगी क्रिया-योग के द्वारा उन पाँच प्रकार के क्लेशों को दग्ध बीज की तरह शक्ति-हीन कर देते हैं।❀ तब तो वे अनर्थ नहीं करते हैं। योगी इनको शक्ति-हीन करके तब योग या समाधि-साधन में लग जाते हैं। **चित्त के पंच क्लेशों को शक्ति-हीन करने से ही योगी होना सम्भव है।**

❀ ते प्रति प्रसवहेयाः सूक्ष्माः। यो०२-१०। देखो—'ओं तपसे स्वाहा'—यजुः।३९-१२।—प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा सब किल्विष का निराकरण करके ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः। यो० ४-३० धर्ममेघ समाधि से अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

अविद्या क्लेश[1]

अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्म-वस्तु को आत्मा समझना अविद्या है। किसी वस्तु के प्रकृत स्वरूप को न जानना और उल्टा-पलटा दूसरा कुछ अन्य ही समझना अविद्या है। जैसे शरीर अनित्य है लेकिन इसको नित्य समझना, शरीर विविध रूप से अशुचि है, लेकिन उसको शुचि समझना, विषय-भोग दुःखदायक है लेकिन इसको सुखदायक समझना और शरीर आत्मा नहीं है लेकिन उसको आत्मा समझना—ये सबके सब अविद्या क्लेश हैं। जीवों को यह अविद्या क्लेश विविध प्रकार के क्लेश दान करते हैं। अविद्या जीवों के लिए अनर्थ का बीज है।

अस्मिता क्लेश[2]

आत्मा का नाम दृक्-शक्ति और बुद्धि-तत्व का नाम दर्शन-शक्ति है। यह चित् स्वरूप (आत्मा) बुद्धि-तत्व से प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा ही यहाँ दृक्-शक्ति या द्रष्टा है और बुद्धि-वृत्तियाँ उनके प्रकाश या प्रतिबिम्बपात का आधार हैं। इस लिए इसका नाम दर्शन-शक्ति है। इसका दूसरा नाम बुद्धि-तत्व है। आत्मा और बुद्धि को (यानी दृक्शक्ति और दर्शन-शक्ति को) एक ही समझना अस्मिता है। चैतन्य और बुद्धि को एक समझना, लौह को और अग्नि के सहवास के कारण उसकी उष्णता को एक समझना ही (ऐक्य बोध या तादात्म्य-अध्यास रस) अस्मिता क्लेश है। साधारण अहं (मैं) बोध का नाम 'अस्मिता' है। आत्मा और बुद्धि को रंजित स्फटिकवत् अर्थात् रंग और स्फटिक की तरह एक रूप से समझ लेना अस्मिता है। बुद्धि में या चित्त में 'आत्मा' का बोध आरोपित करना और 'मैं और मेरा' इत्याकार प्रतीति करने का नाम अस्मिता है। इस अस्मिता से राग नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है।

राग क्लेश[3]

सुख के अनुशय या अनुवृत्तिका नाम राग है। साक्षात्कार यानी

---

१. अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या (यो० २-५। देखो—ऋ० भा० भू० पृ० २३४। स० प्र० ६ समु०)

२. दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। यो० २-६। ऋ० भा० भू० पृ० २३४

३. सुखानुशयी रागः। यो० २-७।—देखो ऋ० भा० भू० पृ० २-३५ उपा०, स० प्र० ६ समु०

प्रत्यक्ष रूप से हो या परम्परा अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से हो एक वार सुख का अनुभव होने से वार-वार उस को याद आती है। उसके पुनः भोग के लिए इच्छा उत्पन्न होती है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए अनेकविध चेष्टा करनी होती है। इस प्रकार की कामना या आसक्ति का नाम ही 'राग' है। इस प्रकार के राग के प्रबल रहने तक योगी होना कठिन है। इस राग से आगे द्वेष उत्पन्न होता है।

द्वेष क्लेश❀

दुःख के अनुशय या अनुवृत्ति का नाम द्वेष है। सुख के समान दुःख का भी अनुशय या अनुवृत्ति होती है। पूर्वानुभूत दुःख की याद होने के साथ-साथ दुःखदायक वस्तु के प्रति वितृष्णा-अनिच्छा या अनभिलाषा उत्पन्न होती है। इसका नाम ही द्वेष है। जिस वस्तु से एक वार दुःख हुआ है उस वस्तु के प्रति द्वेष आयेगा ही। उसके प्रति निवारण और प्रतिघात की चेष्टा भी होगी ही। क्रोध, हिंसा और प्रतारणा (विप्रलिप्सा) का भाव भी उत्पन्न होगा। ये सब के सब द्वेषभाव के रूपान्तर मात्र ही हैं। द्वेष भाव से जो हो नहीं, ऐसा कोई अकार्य नहीं है। इसलिए जब तक द्वेष भाव रहेगा तब तक योगी होने की सम्भावना नहीं है। द्वेष से ही अभिनिवेश की उत्पत्ति होती है।

मृत्युभय (अभिनिवेश) क्लेश★

वार-वार मरण-दुःखों के अनुभव के कारण चित्त में उन सब दुःखों का संस्कार बद्धमूल होता जा रहा है। इस अनुभव का नाम ही 'स्वरस' है। इस स्वरस के रहने के कारण ज्ञानी-अज्ञानी निर्विशेष से सब ही के अन्दर मरण-दुःख की छायास्वरूप या अनुवृत्ति-स्वरूप भाव विशेष निहित है। इस दुर्लक्षणवृत्ति-विशेष का नाम ही अभिनिवेश है।

किसी प्रकार के दुःख के अनुभव होने से उस दुःखप्रद वस्तु के प्रति विद्वेष और वह दुःख फिर अनुभव में नहीं आ जाय, इस प्रकार की इच्छा और उसके प्रतिरोध के लिए प्रचेष्टा उत्पन्न होती है। उस प्रकार की इच्छा का नाम हम अभिनिवेश कह सकते हैं। लेकिन योगी लोग इसको

❀ दुःखानुशयी द्वेषः (यो० २-८। देखो—ऋ०भा० भू० उ०)

★स्वरसवाही विदुषोपि तथारूढोऽभिनिवेशः। यो० २-९। देखो—ऋ० भा० भू० पृ० २३५, २६३, २६५

अभिनिवेश न कह कर मरण-विषयक अनिच्छा को ही अभिनिवेश कहते हैं। क्योंकि दुःखों की चरम सीमा ही मृत्यु है। इसलिए जीवों में मरण-भीति अत्यधिक है। हम सबों के चित्तों में "मैं न मरूँ" ऐसी सूक्ष्म-वृत्ति निरन्तर छिपी हुई है।

प्राणी लोग शरीर, इन्द्रिय और चित्त पर "अहं" 'मैं" सम्पर्क कायम करके रहते हैं। वे धन सम्पद् पर भी "ममत्व" "मेरे" का सम्पर्क कायम करके रह रहे हैं। इन सबों से ये विच्छिन्न होना नहीं चाहते हैं। सदा ही इस भाव के साथ रहते हैं कि "मैं न मरूँ" या "मेरे धन सम्पद् का विनाश न हो"। विशेष करके मरण-दुःख की अनुवृत्ति प्राणी मात्र के अन्दर है, इसी का नाम अभिनिवेश है। यह अभिनिवेश पंचम क्लेश है। क्योंकि इसके रहने से जीव तरह-तरह के क्लेशों को प्राप्त होते हैं। इस अभिनिवेश के कारण ही जीव दुष्कर कार्य नहीं कर सकते हैं और दुःसाहसिक कार्य करने में साहस नहीं करते हैं। क्योंकि "मैं कैसे मरूँ" इस प्रकार की चिन्ता में वे सदा ही व्यस्त रहते हैं।

ऋषि पतंजलि और दूसरे ऋषि लोग स्वतः-सिद्ध मरण-त्रास को देखकर भी उससे पूर्व जन्म-सम्बन्ध का अनुमान करते हैं। प्रश्न होता है कि "कैसे मालूम हुआ कि पूर्व जन्म है ?" उत्तर दिया जाता है "अनुमान प्रमाण से मालूम हुआ।"

मरण त्रास या मरण के प्रति विद्वेष केवल मनुष्यों को है। ऐसा नहीं, कृमि-कीटादि प्राणियों को भी है। नवजात शिशु को भी है। निगूढ़तम वासनाओं के स्रोत से वहमान जीव इसको स्पष्ट रूप से नहीं समझते हैं। यदि यह ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता तो अवश्य ही समझ लेते। लेकिन यह अनुभव इन्द्रियों से हुआ नहीं। यह केवल अन्तर्निहित गूढ़तम संस्कार-बल से ही उत्पन्न होता है। इसके कारण के अज्ञात रहने के कारण जीव स्पष्ट रूप से समझ नहीं सकते हैं कि मैं पहले भी मरा था और इसकी कठोर यंत्रणा भी मैंने भोगी थी।

सुख-दुःख विवेक*

योगी लोग कैवल्य या मोक्ष-लाभ से ही, परम सुख या कैवल्य लाभ

*परिणाम ताप संस्कार दुःखै र्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वंविवेकिनः।यो० २-१५।

से ही दुःख ताप से मुक्त हो के परम शान्ति का लाभ करते हैं ऐसा मानते हैं। योगी लोग सब अस्थायी वस्तुओं में ही दुःख-दर्शन करते हैं। ये लोग सब वस्तुओं के अन्दर सत्व गुण के सुख, रजोगुण के दुःख और तमोगुण के मोह और इन तीनों गुणों में परस्पर विरोध दर्शन करते हुए सब वस्तुओं में दुःख-दर्शन करते हैं। हर एक सुखकर वस्तु के लाभ की प्रचेष्टा में भोग काल में समाप्त होने की चिन्ता में और समाप्त होने के बाद लोग दुःख ही का दर्शन करते हैं। इसके मतानुसार केवल अयोगी, अविवेकी और अज्ञानी ही मोह में मूढ़ और भ्रमान्ध होकर ही किसी वस्तु में सुख और किसी वस्तु में दुःख का दर्शन करते हैं। योगी लोग बोलते हैं कि जो लोग नहीं जानते हैं कि इसमें जहर है वे लोग तो इसको खा लेते हैं; लेकिन जिनको मालूम है वह कभी उस को नहीं खायेंगे। योगी लोग और ज्ञानी विवेकी लोग हर एक वस्तु को दुःख-मिश्रित समझ कर इसको दुःसह ही समझते हैं। अविवेकी जिसको सुख समझते हैं विवेकी उसको दुःख ही समझते हैं।

परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख से जो ओत-प्रोत मिश्रित सुख है उसको योगी लोग मन के विकार या सुख नाम को दुःख ही समझते हैं।

इस सुख नामक मनोविकार को या सुख नामक दुःख को पाकर भोगी स्थायी रूप से इसको नहीं रख सकते हैं। सुख का अवसान हुआ, इसको सोचने से भी दुःख आ गया। भोग के कारण दुःख आयेगा ही। "भोगे रोग-भयम्" अत्यन्त भोग से रोग आक्रमण करेगा। इससे भी दुःख है। इसी का नाम "परिणाम दुःख" है।

'यह सुख अगर नष्ट हो जाय" इस तरह की दुश्चिन्ता उद्वेगादि के ताप से भी दुःख आ जाता है। इसी के आनुषंगिक रूप से और विविध पाप मनोवृत्ति, राग-द्वेष, क्रोधादि भी मन में भविष्यत् घोर दुःख के बीज वपन कर देते हैं। इसी का नाम योगशास्त्र के अनुसार "ताप-दुःख" है।

सुख-भोग करने के साथ-साथ उसका संस्कार चित्त में आबद्ध हो जाता है। यह संस्कार फिर भोगों की तरफ चित्त को खींच लेता है। इसलिये ही बारबार पूर्वानुभूत सुख के तुल्य सुखभोग के लिये चित्त में इच्छा पैदा होती है। जब तक वह नहीं मिलता है तब तक चित्त व्याकुल रहता है और दुःख बढ़ ही जाता है इसी का नाम "संस्कार-दुःख" है।

इस रूप से दुःख तीन रूप के गिने जाते हैं, और सुख-भोग ही इन दुःखों के कारण है। योगी लोग इन सब सुखों को छद्मवेशी दुःख ही समझ लेते हैं।

योग वृक्ष❀—योगाचार्यों ने अष्टांग योग साधना की वृक्ष के साथ तुलना की है। यम और नियम के अनुष्ठान से इसका बीज उत्पन्न होता है, आसन और प्राणायाम से यह (ह०ले०पृ० १५१) अंकुरित होता है, प्रत्याहार से यह पुष्पित होता है और इसके बाद धारणा, ध्यान और समाधि की साधना से यह योग-वृक्ष फलवान् होता है। योग के आठ अंगों के परस्पर के सम्बन्ध इसी तरह घनिष्ट हैं।

प्रत्याहार की उपयोगिता★

यम, नियम, आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर और मन के शुद्ध और सुसंस्कृत हो जाने से प्रत्याहार नामक योगांग की साधना सरल और सहज हो जाती है। इन्द्रिय संयम के लिये प्रत्याहार की साधना आवश्यक है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां क्रमानुसार रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच विषयों के प्रति धावित होती हैं और आसक्त होती हैं। इनकी आसक्ति को नष्ट कर देना या विमुख कर देना ही प्रत्याहार का कार्य है। प्रत्याहार-साधना में सिद्धि आने के बाद धारणा, ध्यान और समाधि निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होती हैं।

संयम साधना❀❀

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों मानस-प्रक्रियाओं को किसी एक अवलम्बन में से प्रयोग करने का नाम संयम है। संयम-सिद्ध योगी

❀तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभावः, आसन प्राणायामैरंकुरितः, प्रत्याहारेण पुष्पितो, ध्यान धारणा समाधिभिः फलिष्यतीति। इति भोजवृत्तिः॥

★ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त-स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ यो० २।५४॥ जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने-आप हो जाता है। क्योंकि मन इन्द्रियों को चलाने वाला है। (ऋ० भा० भू० उपा०)

❀❀ त्रयमेकत्र संयमः॥ यो० ३।४॥ संयम उपासना का नवम अंग है। (देखो ऋ. भा. भू. उपासना.)।

साधकों का संकल्प या इच्छाप्रयोग अमोघ और अव्यर्थ है। संयम-शक्ति से ये लोग दुःसाध्य साधन करते हैं। मन के अन्दर कितनी महती शक्ति छिपी हुई है—इनको ज्ञात है।

धारणा की साधना*

चित्त को किसी स्थान में आबद्ध रखने का नाम ही धारणा है। किसी पवित्र और अनुद्वेग-कर स्थान में किसी योगासन से बैठ कर धारणा का अभ्यास करो। अन्तःकरण-रागद्वेष शून्य बन जाए। इन्द्रियों को विषयों से आकर्षित करके चित्त के पास समर्पण कर दो। चित्त को अब नासाग्र में, सूर्य में, हृदय में या नाड़ी-चक्रों में से किसी एक में या किसी मनोगत स्थान में, वस्तु में या विषय में धारण करो। चित्त को इस रूप से धारण करो जिससे चित्त उससे स्खलित नहीं होने पावे। प्रति दिन बार-बार चित्त को धारण करो। इससे धारणा नामक योगांग आयत्त में आ जायगा। इसी का नाम धारणा है।

ध्यान साधना★

उस धारणीय वस्तु में यदि तुम्हारी एकतानता आ जाय तो उसी का नाम ध्यान है। जिस वस्तु में तुमने अपनी बहिरिन्द्रियों (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्) को निरोध करके अन्तरिन्द्रिय-चित्त को धारण किया है, उस वस्तु का ज्ञान यदि अविच्छिन्न गति से और प्रवाहाकार से प्रवाहित होता हो तब उस मनोवृत्तिप्रवाह का नाम ही ध्यान है।

समाधि-साधना

वह ध्यान जब केवल ध्येय वस्तु को ही प्रकाशित करता है "मैं ध्याता हूं" 'मेरा कार्य ध्यान है" आदि सब कुछ लुप्त हो जाता है, तब उसका नाम समाधि है।

धारणा—ध्यान—समाधि का भेद—धारणा में 'धारणा रूप क्रिया', 'धारणा रूप क्रिया का कर्त्ता मैं हूं' और 'धारणा की वस्तु'—इन तीनों का ही बोध रहता है। ध्यान में 'मैं ध्यान करता हूं' और ध्येय वस्तु दूसरा है' यह भाव रहता है। समाधि में सब कुछ लुप्त होकर केवल 'ध्येय वस्तु' ही रहती है। 'मैं ध्याता हूं'—यह भी लुप्त हो जाता है। धारणा से ध्यान

---

* देश बन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ यो. ३. १ ॥ देखो-हुगली शास्त्रार्थ, ऋ. भा. भू. उपासना। स. प्र. ७ समु०॥

★ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ यो ३.२. ॥ देखो—हुगली शास्त्रार्थ। ऋ. भा. भू. उपा०। स. प्र. ६ समु०—७ समु०।

और ध्यान से समाधि के क्रमानुसार अभ्यास करना चाहिये। संयम साधना में किसी एक ही विषय पर धीरे से क्रमानुसार धारणा, ध्यान और समाधि का प्रयोग किया जाता है।

संयम साधना का क्रम—योग-साधक प्रथमतः स्थूल-स्थूल विषयों पर संयम प्रयोग का अभ्यास करते रहें। उसके आयत्त हो जाने के बाद क्रमानुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयों पर संयम-अभ्यास करना चाहिये। चित्त जब स्थूल में तन्मय होता है और उस समय साथ में विकल्प ज्ञान भी रहे तब उस तन्मयता का नाम "सवितर्क"[1] है और यदि विकल्प ज्ञान नहीं रहता है तब उस तन्मयता का नाम "निर्वितर्क है[2] अर्थात् स्थूल अवलम्बन में तन्मय होने से ही उसका नाम "सवितर्क" और विकल्प ज्ञान न रहने से ही उसका नाम 'निर्वितर्क" है। सवितर्क समाधि का अवलम्बन स्थूल महाभूत और इन्द्रिय गण हैं। सविचार समाधि का अवलम्बन मन, बुद्धि अहंकार और पंच तन्मात्रायें हैं[3] सानन्द समाधि[4] का अवलम्बन शुद्ध सत्त्वगुण है जो कि अन्तःकरण का प्रकाश है। जिससे बुद्धि निर्मल होती है और जिसके साथ नाममात्र रजोगुण का विक्षेप और तमोगुण का आवरण मिला हुआ है। सास्मिता[5] समाधि में अवलम्बन विशुद्ध सत्त्वगुण है।

अन्तरंग और बहिरंग योग[6]

योग के अन्दर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बहिरंग साधना के रूप में और आगे संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरंग साधना के रूप में हैं। बहिरंग साधना से शरीर की जड़ता की निवृत्ति,

---

१. तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।। यो. ।।१-४२।। देखो व्यासभाष्य।

२. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासानि वितर्का ।। यो० १।४३ ।। देखों व्यास भाष्य

३. सूक्ष्म विषयत्वञ्चालिंग पर्यवसानम् ।। यो. १. ४५ ।। सूक्ष्मोविचारः-व्यासभाष्य.

४. आनन्दो ह्लादः। व्यास भाष्य-१.१७ ।।

५. एकात्मिका संविदस्मिता ।।-१. १७ ।।

६. त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ।। यो. ३.७ ।।

इन्द्रियों की तीक्ष्णता और चित्त की निर्मलता प्राप्त होती है, इसके आगे संयम के द्वारा चित्त को सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थ में प्रयोग किया जाता है।

एकाग्रता परिणाम❀

किसी ध्येय वस्तु का अवलम्बन करने से पहले जो तदाकार वृत्ति का जन्म होता है उसका विलोप होते-होते यदि फिर तदाकार दूसरी वृत्ति का जन्म होता हो तो उस संलग्न रूप से उत्पन्न अतीत और वर्तमान, लुप्त और उज्ज्वल दोनों वृत्तियों को "एकाग्रता-परिणाम" समझना चाहिये। यहाँ वृत्ति का अभिप्राय ज्ञानांश है। एक वृत्ति के बाद दूसरी वृत्ति उदित होने से दोनों के स्थिति काल का संकलन ६ क्षण है।★ एक निमेष चतुर्गुण काल क्षण है। एकाग्रता-काल अविच्छिन्न रूप से १२-गुणित होने से धारणा काल (६×१२=७२ क्षण) होता है। अविच्छिन्न धारणा काल को १२ गुणित करने से ध्यान काल (७२×१२=८६४ क्षण) है। अविच्छिन्न ध्यान काल को १२ गुणित करने से (८६४×१२ =१०३६८ क्षण) समाधि काल है और समाधि काल को १२ गुणित करने से (१०३६८×१२=१२४४१६ क्षण) ही सम्प्रज्ञात योग काल है। अब अनुमान किया जा सकता है कि वृत्ति प्रवाह को स्थिर रखने में या समाधि लाने में कितने समय की आवश्यकता है।

समाधि परिणाम❀❀

विविध और बहुत प्रकार की वृत्तियों के लोप होने के बाद चित्त में केवल मात्र एक वृत्ति के प्रवाह आने से उसका नाम हुआ समाधि परिणाम। बहुत विषयों के प्रति धावित होना और मात्र एक ही विषय में धावित होना दोनों ही चित्त के स्वधर्म हैं। एक ही विषय में चित्त को आबद्ध रखना ही समाधि-अभ्यास है।

❀ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ ३. १२.

★ ऐकनिमेषेर चतुगुणित काल क्षण ॥ हस्तलेख-१५७ ॥

❀❀ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ यो. ३-११॥

(१) **संयम-साधना में परिणामत्रय का ज्ञान**[1]

जरूरी है। पंचभूतों में और इन्द्रियादि भौतिक वस्तुओं में तीन परिणाम हैं—१. धर्म परिणाम, २. लक्षण-परिणाम ३. अवस्था-परिणाम।

मान लो पाँच भूतों में मिट्टी एक भूत है। पिंडाकार में कुछ मिट्टी पड़ी हुई है इसमें तीन परिणाम हैं। यहाँ पिंडत्व इसका धर्म परिणाम है। जब यह घटाकार बन जायगा तब इसमें घटाकारत्व-धर्म आ जायगा। यह इसका धर्म-परिणाम है।

अतीत, वर्तमान और भविष्यत् कालत्रय में इस घट का अति सूक्ष्म जो परिवर्तन मालूम पड़ता है—उसका नाम लक्षण-परिणाम है।

जब इसका अवस्था-भेद देखा जाता है—जैसे नूतनत्व, पुरातनत्व, उज्ज्वलत्व, मलिनत्व, क्षय-प्राप्ति तब इसका नाम अवस्था परिणाम है। पाँच भौतिक शरीरों में जन्म, शैशव, बाल्य, कैशोर यौवन, जरा मृत्यु भी अवस्था-परिणाम हैं।

(२) **संयम-साधना में आभ्यन्तर परिणाम-सप्तक का ज्ञान**[2] जरूरी है। पांच भौतिक जगत् के पंच भूतों में और इंद्रियादि भौतिक वस्तुओं में जैसे तीन परिणाम हैं ऐसे ही आभ्यन्तर वस्तु चित्त में परिणाम बहुत प्रकार के हैं। सुख, दुःख, लाभ, हानि, सौभाग्य, दौर्भाग्य, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के परिणाम चित्त में प्रत्यक्ष रूप में अनुभव योग्य हैं। लेकिन १. निरोध परिणाम, २. कर्म (पाप-पुण्य) परिणाम ३. कर्म-जन्य संस्कार परिणाम, ४. जीवन परिणाम, ५. क्रिया परिणाम, ६ शक्ति परिणाम और ७ काल परिणाम—ये सात परिणाम साक्षात् अनुभव के बाहर होने पर भी चित्त, मन, बुद्धि पर प्रभाव डालते हैं।

(३) **संयम-साधना में धर्मत्रय का ज्ञान**[3]

जरूरी है। जो कुछ धर्म या शक्तिविशेष का आश्रय है वह धर्मी है। हर एक प्राकृतिक द्रव्य ही १ शान्त २ उदित और ३ अव्यपदेश्य—

---

१. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ यो० ३-१३ ॥

२. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥३-१५॥

३. परिणामत्रय संयमादतीतानागत ज्ञानम् ॥३-१६॥

इन तीन धर्मों के साथ युक्त है। जैसे बीज और अंकुर है। १. अंकुर में बीजत्व 'शान्त' धर्म है। २.बीज अपने अंकुर रूप कार्यको सृजन करके अस्तमित या 'शान्त-धर्म' में आ गया है अंकुर का अब 'उदित धर्म' है। ३. अंकुर में वृक्षत्व छिपा हुआ है वह वृक्षत्व अंकुर में 'अव्यपदेश्य धर्म' में है। पीछे 'उदित' धर्म में आ जायगा।

(४) **संयम-साधना में पंच मनोवृत्तियों का ज्ञान***

जरूरी है। मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं— १ क्षिप्त, २ मूढ़ ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र ५ निरुद्ध।

(क) क्षिप्त – बाह्य-वस्तुओं की कामना में जब मन अस्थिर और चंचल रहता है। मन किसी एक विषय में निविष्ट नहीं रहता। विषय से विषयान्तर में दौड़ता है। सन्तुष्ट नहीं रहता है। सदा ही अति व्यस्त रहता है। यह ही मन की क्षिप्त मनोवृत्तियाँ है।

(ख) मूढ़—मन जब धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य को नहीं सोचता, काम, क्रोध, लोभादि का वशीभूत होता है। निद्रा, तन्द्रालस्यादि के अधीन रहता है तब उसकी वह मूढ़ मनोवृति है।

(ग) विक्षिप्त—मन की चंचलता के अन्दर जब कभी कभी-दुःखजनक विषयों को छोड़ कर सुखजनक विषयों को पकड़ लेता है और उसी में स्थिर हो जाता है उसी का नाम मन की विक्षिप्त मनोवृत्ति है।

(घ) एकाग्र—चित्त जब किसी बाह्य वस्तु या आभ्यन्तर वस्तु में स्थिर और अचंचल रहता है तब चित्त की रजोवृति और तमोवृत्ति अभिभूत हो जाती है। केवल शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल प्रकाशमय सुखकर और उज्ज्वल ज्ञान-दीप्तिमयी सात्त्विक वृति का ही उदय होता है। यह ही मन की एकाग्र वृति है।

(ङ) निरुद्ध—एकाग्र वृति में चित्त का कोई न कोई अवलम्बन रहता ही है। लेकिन निरुद्ध वृत्ति में किसी प्रकार का भी अवलम्बन नहीं रहता है। तब चित्त अपनी कारणीभूत प्रकृति में प्रलीन रहता है। और मानो कृतकार्य हो गया, इस रूप से निश्चेष्ट रहता है। (ह०ले० १६२ पृ०)

---

*व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयौ निरोधपरिणामः ।।यो ३-९।।

वह केवल मात्र संस्कार भावापन्न ही रहता है। उसमें तब किसी प्रकार का विसदृश परिणाम भी नहीं देखा जाता है। चित्त की इन पाँच स्थितियों के अन्दर क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्तवृत्तियों का योग के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। केवल एकाग्र और निरोध चित्तवृत्तियों को योग साधन में व्यवहार किया जा सकता है। निरुद्ध वृत्ति ही योग साधन के लिए सर्वोत्तम वृत्ति है। क्षिप्त, मूढ़, और विक्षिप्त वृत्तियों को दूरीभूत करने के बाद ही निरुद्ध वृत्ति का उदय हो सकता है।

(५) **संयम-साधना में व्युत्थान और निरोध परिणामों का ज्ञान** जरूरी है। (क) चित्त के क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त—इन राजसिक परिणामों का ही नाम "व्युत्थान परिणाम" है। चित्त की प्रज्ञात स्थिति भी व्युत्थान परिणामों में सम्मिलित है और विशुद्ध सत्त्व परिणाम एकाग्र और निरोध ही "निरोध-परिणाम" है। चित्त की स्थिरता या निर्वृत्तिक अवस्था ही "निरोध परिणाम" है।

अवस्था भेद से योग चतुर्विध है❀

(१) प्राथम-कल्पिक (२) मधुमती भूमिक (३) प्रज्ञा-ज्योति और (४) अतिक्रान्त मानवीय। योग शिक्षा में जो लोग नये हैं योग जिनका दृढ़ नहीं हुआ है, जो लोग थोड़े दिनों से ही संयम-साधना में (धारणा-ध्यान-समाधि की साधना में) प्रवृत्त हुए हैं, वे लोग किसी प्रकार के ऐश्वर्य, सिद्धि, विभूति, सिद्ध पुरुषों के भाव या ज्ञानी पुरुषों के दिव्य भाव—कुछ भी अनुभव नहीं करते हैं। ये लोग 'प्राथम कल्पित" स्थिति में हैं।

(२) इस प्राथम स्थिति का अतिक्रमण करके योग साधक द्वितीय 'मधुमती भूमि' में आ जाते हैं। तब वे लोग 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' लाभ करते हैं।

(३) पाँच भौतिक वस्तु और इन्द्रियों को जय करके जब वे लोग परवर्ती सिद्धि सर्वज्ञातृत्वादि लाभ के लिये प्रयत्न करते हैं तब इनको "मधुभूमिक" योगी बोला जाता है। ठीक इसी समय अपने अन्दर कुछ न कुछ अतीन्द्रिय शक्ति का अनुभव होता है। "देवताओं के प्रलोभन" नाम से यह शक्ति अभिहित होती है। इस प्रलोभन को अतिक्रमण करके साधना में ही तत्पर रहने से योगी तृतीय स्थिति "प्रज्ञा ज्योति" में पहुंच जाते हैं।

❀ देखो—स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् ॥ यो० ३-५१ का व्यास भाष्य।

(४) वे लोग अत्यधिक विवेक ज्ञान सम्पन्न होते हैं अर्थात् पुरुष प्रकृति के भेदनिर्णय में तत्पर हो जाते हैं। विवेक ज्ञान के अवान्तर फलों के प्रति वे लोग अनासक्त रहते हैं। समाधिकाल में भी किसी प्रकार का विघ्न नहीं उठता है और वे जीवन्मुक्तों की स्थिति में आ जाते हैं। वे लोग ही चौथी स्थिति "अतिक्रान्त भावनीय" में पहुँच जाते हैं।

योग-लभ्य विभूतियाँ❀

इन चार स्थितियों के "प्राथम कल्पिक" योगी लोग किसी प्रकार की अतीन्द्रिय शक्ति का अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् कोई सिद्ध पुरुष या देवता के या दिव्य गुण का दर्शन नहीं पाते हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थितितों के योगी लोग ही भिन्न २ अतीन्द्रिय शक्तियों के अनुभव और उनको लाभ करते हैं। योगी लोग इसको ही "देवदर्शन और सिद्धपुरुष दर्शन" बोलते हैं। इन्हीं शक्तियों से त्रिविध योगियों के अन्दर बहुत योगी क्षुब्ध और विस्मित हो जाते हैं।

इस प्रकार की विभूतियों को या ऐश्वर्यों को देख कर जो योगी प्रलुब्ध और विस्मित होते हैं उनका योगिक उत्कर्ष से पतन हो जाता है। योग विद्या के और साधना के एकमात्र उद्देश्य का नाम ही कैवल्य-लाभ या मोक्ष-लाभ है। यौगिक विभूतियाँ विघ्नों के रूप में या परीक्षा के रूप में आ जाती हैं। यहाँ ही बहुत योगियों का योग भंग और पतन होता है। विस्मय आ जाने से मोक्ष या कैवल्य-लाभ से पहले ही कृत-कृत्यता बोध आ जाता है, किसी को संग और भोगेच्छा भी आ जाती है। रामायण, महाभारत या पुराणों में इस प्रकार के दृष्टान्त बहुत हैं। विस्मय भी विघ्न है। इसको भी वर्जन करना चाहिये। किसी तरह से लुब्ध या मुग्ध नहीं होना चाहिये। तब मोक्ष का कैवल्यभाव होगा। अन्यथा संसार, सुख दुःख, बन्धन, जन्म-मृत्यु सब-कुछ ऐसे ही बने रहेंगे।

स्मरणातीत काल से योगी लोगों ने भिन्न-भिन्न स्थान और विषयों पर संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) के प्रयोग से असंख्यप्रकार की विभूतियों★ के अनुभव किये थे। ऋषि पंतनजलि ने अपने राजयोग सूत्रों के विभूति-

---

❀स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् ॥३-५१॥

❀जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥यो. ४-१॥ समाधिजन्य सिद्धयाँ ही विभूतियां हैं ॥—स० "स्वयं योगाभ्यास कर सिद्धियों के देख लेवें। इससे उत्तम बात दूसरी कोई भी नहीं है। ऋषि का अल्काट को पत्र—पत्र स०-६३।

पाद में बहुत विभूतियों को, उनके प्राप्ति के उपायों को, संयम-प्रयोगों को लपिबद्ध किया था। उन्हीं का प्रचार साधारण में होता है। इन सब के अतिरिक्त बहुत प्रकार की सिद्धि, विभूति या ऐश्वर्यों का अनुभव योगी साधकों के समाज के अन्दर प्रचलित है।

कलकत्ते के कई एक विज्ञ और प्रभावशाली पुरुषों ने मुझसे पातंजल योग दर्शन की (युक्तियुक्त व्याख्या के साथ) विभूतियों की वर्णना सुनने की प्रार्थना की है। मैं अवश्य इन सब विभूतियों पर प्रकाश डालूंगा। आप लोग बहुत आदमी इन सबको जादू-विद्या, भोज विद्या, डाकिनी विद्या या कुहुक विद्या भी समझ लेंगे, इसमें मुझे आपत्ति कुछ भी नहीं है।

योग की शिक्षा और साधना में छः वर्ष

मेरे परम मित्र पण्डित प्रवर ईश्वरचन्द्र जी विद्यासागर से अनुरोध-पत्र आया है। योग-साधना के बारे में आपके अनुभव में जो कुछ है, आप करीब-करीब सब कुछ ही बोलने की कृपा करें। क्योंकि किताबों में ज्ञान का रहस्य मिलता है। साधना का रहस्य नहीं मिलता है।" विद्यासागर जी का अनुरोध मुझे सहर्ष स्वीकार है मैं यथाशक्ति इसका वर्णन करूँगा।

मैंने चाणोद, कर्णाली, व्यासाश्रम और अहमदाबाद के निकट श्मशान के दुग्धेश्वर मन्दिर में भिन्न-भिन्न योगी गुरुओं से २४, २५ वर्ष की उम्र से २७-२८ वर्ष की उम्र तक तीन वर्ष काल योग-विद्या की शिक्षा और अभ्यास में बिताया था। पीछे ३० वर्ष की उम्र तक तीन वर्ष काल आबू-शैल में योग-व्रत धारण करके योग की साधना और तपस्या में बिताया था। मेरे प्रति गुरुओं की बहुत ही कृपा थी। मैं योग के बारे में जो कुछ कहूंगा उनकी दी हुई शिक्षा और साधना से **जो कुछ अनुभव मैंने पाया है उसी को मैं कहूंगा।**

जप-धारणा-ध्यान-समाधि के वैशिष्ट्य—ये चारों एक ही वस्तु हैं। प्रणव-मन्त्र का जप अविराम गति से करने के बाद जप गाढ़ होकर धारणा रूप में आ जाता है। उसी प्रकार धारणा करने से धारणा गाढ़ हो कर ध्यान-रूप में आ जाती है। उसी प्रकार ध्यान करने से ध्यान गाढ़ होकर समाधि रूप में आ जाता है। जप में सब कुछ रहते हैं। जप क्रिया के बाद धारणा में धारणा क्रिया, धारणा-कर्ता और धारणा का विषय इन तीनों विषयों का ज्ञान रहता है। ध्यान में ध्यान-कर्त्ता मैं और मेरा ध्येय दोनों रहते हैं। समाधि में केवल ध्येय विषय ही रहता है और ध्याता का अस्मित्व ध्येय में विलीन हो जाता है यह चित्त का सर्वोत्कृष्ट स्थैर्य है।

प्रत्याहार और धारणा का भेद :—धारणा का अर्थ है चित्त को एक ही विषय में धारणा करना अर्थात् चित्त के अन्दर केवल एक ही विषय का चिन्तन करना। प्रत्याहार की साधना में इन्द्रियों को विषयों के सम्बन्ध से पृथक् कर देने से ही धारणा सम्भव होती है। खंड-खंड ज्ञान-वृत्ति का नाम धारणा है और अखंड एकतान ज्ञान-वृत्ति का नाम ध्यान है। समाधि सम्पूर्ण तन्मय भाव है। समाधि से ही आत्म-दर्शन होता है।

धारणा, ध्यान और समाधि से सम्प्रज्ञात समाधि होती है। **सम्प्रज्ञात** समाधि में कोई न कोई विषय अवलम्बन के रूप में रहता है। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय या बीज रहता है अतः उसका नाम सबीज समाधि है।

जिस समाधि में वह नहीं रहता है उस का नाम **निर्बीज** समाधि है। धारणा, ध्यान और समाधि निर्बीज समाधि का बहिरंग है और केवल पर **वैराग्य ही निर्बीज समाधि का अन्तरंग है**।

सबीज साधना नहीं करने से निर्जीव साधना सम्भव नहीं है यदा-कदा किसी विषय पर स्वल्प मात्रा में भी आसक्ति रहेगी और जब तक विषय-चिन्तन रहेगा तब तक सबीज है। और जब साधक सम्पूर्ण रूप से विषयासक्ति हीन हो जायेगा, स्वल्प मात्रा में भी विषयासक्ति नहीं रहेगी यानी परवैराग्य होगा तब ही उनकी निर्बीज समाधि सम्भव है।

संस्कार और प्रत्यय—चित्त के अन्दर संस्कार रहते हैं। संस्कार से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। संस्कार और प्रत्यय एक नहीं हैं। संस्कार भंडार के रूप में हैं और प्रत्यय उसमें सन्निहित रहता है। संस्कार रहने से ही प्रत्यय नहीं उठता है। प्रत्यय उठने के कारण और स्थितियाँ होनी चाहिये। सद्यो-जात शिशु के अन्दर काम क्रोधादि के संस्कार हैं लेकिन उनसे काम-क्रोधादि के प्रत्यय नहीं उठते हैं। (१७० ह.ले.) अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ वे प्रत्यय आ जाते हैं मन या चित्त से ही भिन्न-भिन्न समय में या भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रत्ययों का उदय होता है। चित्त में पापों के संस्कार रहने से पापों का प्रत्यय उठता है और पुण्यों का संस्कार रहने से पुण्यों का प्रत्यय उठता है। जिसके अन्दर क्रोध का संस्कार है और सदा ही क्रोध के संस्कार उठते हैं। क्षमा-गुण का अव-लम्बन करने से उसके अन्दर क्षमा के संस्कार संचित होते रहेंगे और क्षमा

के संस्कार चित्त के अन्दर रहते हुए क्रोध के संस्कारों को विनष्ट करेंगे। इसी का नाम देवासुर संग्राम है। हमारे अन्दर सदा देवासुर संग्राम चल रहा है। कभी देवों का जय होता है और कभी असुरों का जय होता है। जागरण में और स्वप्न में यह युद्ध चालू है।

निरोध और व्युत्थान का युद्ध*

प्रत्ययों के उठने का नाम ही व्युत्थान है और उनके दबे हुए रहने का नाम ही निरोध है। निरोध और व्युत्थान संस्कार दोनों ही चित्त में रहते हैं। समाधि-अभ्यास के द्वारा निरोध संस्कारों को वर्धित करना और व्युत्थान-संस्कारों को विनष्ट करना चाहिये। निरोध और व्युत्थान परस्पर विरोधी हैं। निरोध का परिमाण ज्यादा होने से व्युत्थान कम होता है और व्युत्थान का परिमाण ज्यादा होने से निरोध कम हो जाता है। व्युत्थान-संस्कार से समाधि भंग होती है और निरोध-संस्कार से समाधि गाढ़ होती है। निरोध परिमाण पूर्ण होने से व्युत्थान परिणाम निःशेष रूप से विनष्ट हो जाता है और व्युत्थान संस्कार क्षय प्राप्त होने से चित्त संस्कार-शून्य होता है। इस रूप से चित्त संस्कार शून्य होने से ही चित्त लय प्राप्त होगा जिसे योगी लोग चाहते हैं। ये सब संयम साधना की प्रस्तुत मात्र ही है।

---

* निरोध व्युत्थान संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।। यो० ३-९ ।।

चतुर्थ अध्याय

योग की विभूतियाँ

संयम का बल★

किसी विषय पर से धारणा, ध्यान और समाधि के प्रयोग करने से संयम बनता है। संयम ही प्रकृत योग बल है। इसी संयम से ही अतीन्द्रिय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। दुःसाध्य कर्म साधित होता है और कैवल्य या मुक्ति तक मिलती है। योग की विभूतियाँ या ऐश्वर्य संयम से ही आ जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन के विभूति पाद में संयम लभ्य विभिन्न विभूतियों के वर्णन किये हैं। जिसकी साधना अभ्यास के लिए बहुत ही कठोरता के साथ आबू शैल में मेरा तीन वर्ष का काल बीत गया था। अपनी व्यक्तिगत अभिज्ञता और अनुभूति से ही मैं उनमें से कई एक विभूतियों और ऐश्वर्यों का वर्णन करूँगा। मैंने पहले ही आपसे अनुरोध किया था कि **मेरी मृत्यु तक इसका प्रकाशन नहीं होना चाहिये।**

प्रज्ञालोक की प्राप्ति❀

महर्षि पतंजलि ने कहा है कि संयम को जय करने से प्रज्ञालोक (प्रज्ञा+आलोक) मिलता है। यह परीक्षित सत्य है। संयम जब परिपक्व और स्वाभाविक होजाता है तब समाधि-प्रज्ञा का आलोक मिलता है। इस आलोक के प्रकाशित होने से अलौकिक ज्ञान और शक्ति-लाभ होता है। चिन्तनीय विषयों का पूर्णज्ञान आ जाता है। स्थूल दृष्टि से या स्थूल ज्ञान से हम लोग वस्तुओं के आंशिक स्थूल तत्त्वों को जान सकते हैं, किन्तु

★ त्रयमेकत्र संयमः ।यो० ३-४।

❀ तज्जयात् प्रज्ञालोकः ।यो० ३-५।

समाधि ज्ञान के सूक्ष्म ज्ञान से हम लोग वस्तुओं के बारे में स्थूल-सूक्ष्म सब कुछ जान सकते हैं। उपस्थित आचार-व्यवहार कार्य प्रणाली देखकर हम लोग किसी मनुष्य के बारे में स्वल्प ही जान सकते हैं लेकिन समाधि जात सूक्ष्म दृष्टि से हम लोग उसके जीवन के भीतर-बाहर प्रकाशित-अप्रकाशित सब कुछ जान सकते हैं। चिकित्सक बीमारों को, शिक्षक छात्रों को, विचारक अभियुक्त व्यक्तियों को या विक्रेता-क्रेताओं को कुछ न कुछ मनः-संयम के प्रयोग से दूसरे व्यक्तियों से अधिक समझ लेते हैं। यह संयम जब इच्छाधीन किया जा सकता है तब ही समझा जायेगा कि संयम-जय हो गया है। इसी का नाम प्रज्ञालोक है। संयम-साधन से यहाँ ज्ञानालोक परिपूर्ण रूप से आ जाता है।

भूत-भविष्यत् का ज्ञान-लाभ❀

हम लोग वर्तमान को देखकर कुछ-न-कुछ अतीत और भविष्यत् की अवस्था जान लेते हैं। जिनकी बुद्धि जितनी सूक्ष्म और स्थिर होगी, वे उतने ही सूक्ष्म विचार से अधिकतर निश्चित सिद्धान्त में पहुँच जायेंगे। संयम साधक योगी का चित्त अत्यधिक स्थिर और सूक्ष्म होने के कारण वे अतीत और भविष्यत् को अत्यधिक अनुभव कर सकते हैं। पतंजलि के मतानुसार वस्तुओं के त्रिविध परिणाम—(धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम) को और व्यक्तियों के चित्त के सप्त परिणाम, (निरोध परिणाम, कर्म परिणाम, संस्कार परिणाम, क्षण परिणाम, जीवन परिणाम, क्रिया परिणाम और शक्ति परिणाम) को समझकर उन पर संयम प्रयोग करने से अर्थात् चित्त में धारणा, ध्यान, प्रवाह और समाधि की स्थिरता की उत्कट शक्ति को एक साथ प्रयोग करने से उस वस्तु या व्यक्ति के पूर्व वृत्तान्त और भविष्यत् की सम्भाव्य घटनायें प्रत्यक्षवत् प्रतिभासित होंगी।

सर्व जीवों के शब्द और भाषाओं का ज्ञान-लाभ❀❀

ऋषि पतंजलि ने कहा है कि शब्द, अर्थ और प्रत्यय के परस्पर

❀ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।३-१६

❀❀ शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुत ज्ञानम् ।३-१७।

अध्यास के कारण स्मृति में संकर होती है, परन्तु इन तीनों के प्रविभागों में संयम करने से सर्व जीवों के शब्दों शब्दों का ज्ञान हो जाता है।

ऋषि का कहना यह है कि हम लोग सब मनुष्यों की, पशु, पक्षी, सर्प-कीट-पतंगादि सर्वजीवों की भाषाओं को समझ सकते हैं। यदि हम लोग उन भाषाओं के शब्द अर्थ प्रत्ययों को अलग-अलग करके उन सब में संयम का प्रयोग करें, तब जैसे मनुष्य मनुष्यों की भाषाओं को वैसे ही सर्प आदि प्राणियों की भाषा को पृथक्-पृथक् समझ सकते हैं। अलग-अलग भाषाओं को समझ लेते हैं। व्यक्ति सामान्य दूसरे की भाषा को नहीं समझते हैं, केवल मनोभावों और गतिविधियों से थोड़ा बहुत समझ लेते हैं। अब प्रश्न आता है मामूली आदमी दूसरे प्राणियों की भाषा क्यों नहीं समझते हैं? संयम प्रयोग करने से योगी लोग कैसे समझते हैं?

पतंजलि ने इसमें हेतु दिखाया है कि मामूली आदमी शब्दों के साथ अर्थ और प्रत्ययों में अलग-अलग संयम प्रयोग करके उच्चारित शब्दों के अभिप्रायों को नहीं समझते हैं।

अब शब्द, अर्थ और प्रत्यय का अभिप्राय समझना चाहिये।

शब्द—एक प्रकार की ध्वनि जो कि श्रोत्र रूप इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य पदार्थ है।

अर्थ—उस श्रोत्र रूप इन्द्रिय से ग्राह्य पदार्थ की जाति, गुण और क्रियादि का आश्रय।

प्रत्यय—उस पद-अर्थ के आकार से पदार्थ प्राप्त ज्ञान।

शब्द, अर्थ और प्रत्यय (=ज्ञान) भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन ये एक ही विषय-जैसे हमारे मन में उदित होते हैं। (ह०ले० पृ० १७६)

(१) **शब्द**—मान लो 'गौ' एक शब्द है। यह वाग् यंत्र से उच्चारित हुआ और कर्ण ने उसको ग्रहण किया। इस शब्द का आश्रय स्थल हमारा वाग् यंत्र ही है।

(२) **अर्थ**—इसका अर्थ एक चतुष्पद् प्राणी है, चार पैर, दो शृंग और एक पुच्छ वाला है। गौशाला इसका आश्रय स्थल है।

(३) **ज्ञान**—प्रत्यय (ज्ञान) भी एक भिन्न तत्त्व है और इसका आश्रयस्थल चित्त है।

इन तीनों विषयों को हम लोग पृथक्-पृथक् नहीं लेते हैं। एक साथ एक ही विषय के समान ले लेते हैं। यह तीनों विषयों का मिश्रित ज्ञान है। इस रूप से लेने से किसी एक विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हमको नहीं मिलता है। हमारा यह ज्ञान शब्द, अर्थ और प्रत्यय के बारे में सुस्पष्ट या स्फुट ज्ञान नहीं है। इसमें से किसी एक का स्फुट ज्ञान पाने के लिए केवल उस पर ही संयम का प्रयोग करना पड़ेगा। एक के स्फुट ज्ञान से अपर दोनों को छोड़ देना होगा। तब ही उस विषय में पूर्ण और स्फुट ज्ञान होगा।

भाषा से भाव का प्रकाश होता है। प्रत्येक जीव भाषा या शब्द के द्वारा मनोभाव का प्रकाश करता है और समजातीय जीव उसको समझ लेता है। भाषा या शब्द की भिन्नता होने पर भी भाव की भिन्नता नहीं है। संयम सिद्ध योगी संयम के द्वारा सब प्राणियों के ही मनोभाव समझ लेते हैं। मनोभाव ही भाषा का रूप ग्रहण करके निकलता है। मनोभाव अव्यक्त है, मामूली आदमी उसको नहीं जानता है। भाषा व्यक्त और मनोभाव अव्यक्त, अप्रकाशित है। अव्यक्त में स्थिति तमोभाव है। रजोगुण के द्वारा यह उत्तेजित होता है और सत्त्वगुण के द्वारा प्रकाशित होता है।

भाव की भिन्नता नहीं है, भाषा की भिन्नता है। सबके वाग् यंत्र भी समान नहीं हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न प्राणी वाग् यंत्रों के अनुसार अपनी अपनी भाषा का उच्चारण करते हैं। इन शब्दों को छोड़कर केवल अर्थमात्र में संयम प्रयोग के द्वारा हम लोग सब प्राणियों के मनोभावों को जान सकते हैं। शब्द और अर्थ या प्रत्यय को मिश्रित रूप से ग्रहण करने से हम लोग मनोभाव को नहीं जान सकते हैं। चित्त शब्द-पथ से शब्दों के उत्पत्ति स्थान वाग् यंत्र में जाता है और आगे वाग्यंत्र की क्रिया के उत्पत्ति स्थान मन में प्रवेश करता है। इस रूप से मनोभाव जाना जाता है। श्रोता इस रूप से वक्ता के मनोभाव को पूर्णतया जान सकते हैं। साधारण मनुष्य की सूक्ष्म दर्शन शक्ति नहीं है, लेकिन योगी की सूक्ष्म दर्शन शक्ति है। योगी शब्द मात्र में संयम प्रयोग करके और वर्णादि की सहायता के विना ही अपर के मन में जो पद विद्यमान है उसको जान सकते हैं। अपर अपने मनोभाव को वर्णों के द्वारा प्रकाश नहीं भी करे, योगी उसकी मनोगत चिन्ता को भी समझ लेते हैं। इस प्रकार योगी शब्द, अर्थ और प्रत्यय को प्रविभाग से संयम में लाकर सभी प्राणियों के उच्चारित शब्दों के अर्थ-

ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। योगी धारणा, ध्यान और समाधि को क्रमानुसार तीक्ष्ण और तीव्र रूप से प्रयोग करके अर्थात् संयम के द्वारा सभी प्राणियों के शब्द या भाषाओं को समझ लेते हैं।

पूर्व जन्मों का ज्ञान-लाभ❀

महर्षि पतंजलि ने कहा है कि संस्कारों के साक्षात्कार होने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है। संस्कार ज्ञान और कर्मों की छाप है। हमने पूर्व जीवनों में जो कुछ किया है और जो कुछ जाना है उन सब कर्मों के और ज्ञानों के संस्कार हमारे चित्त में संस्कार के रूप में या अति सूक्ष्म बीजाकार में मौजूद हैं। उन संस्कारों के कारण (हले पृ.१८०) वासनाओं का उदय होता है और वासनाओं से कर्म और ज्ञान होते हैं। पुण्य कार्य करने से पुण्य संस्कार, निर्मल ज्ञान से निर्मल ज्ञानों का संस्कार, पापमय कर्म करने से पापों का संस्कार और मिथ्या ज्ञान लेने से मिथ्या ज्ञानों का संस्कार हमारे अन्दर जमा होने लगता है। जन्म-जन्मान्तरों में ये संस्कार हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ चलते हैं।

इन संस्कारों को हम आंखों से नहीं देख सकते हैं। तब किस प्रकार महर्षि पतंजलि के कथनानुसार संस्कारों का साक्षात्कार होगा? ये बहिरिन्द्रियों से नहीं देखे जाते हैं लेकिन अन्तःइन्द्रिय यानी अन्तःकरण के द्वारा इन संस्कारों का साक्षात्कार हो सकता है। प्रयत्न करने से हम सब कोई पूर्व जन्मों के संस्कारों का समझ सकते हैं। संस्कारों स हमारे अन्दर वासनाओं का उदय होता है। काम, क्रोध या लोभ की वासनाओं के प्रभाव से आदमी काम, क्रोध या लोभ के कार्य करते हैं। इन सब कार्य-प्रणालियोंको देखकर हम लोग समझ सकते हैं कि मेरे अन्दर या दूसरे के अन्दर कौन सी वासनायें प्रबल हैं। ये सब वासनायें हम सब के चित्तों से ही निकलती हैं, शरीर चित्त की वासनाओं के अनुसार कर्म करता है शरीर चित्त के अधीन है। चित्त ही हमारे शरीर कर्मों का कर्ता है। कोई चोरी करते हैं, कोई दान करते हैं, कोई कलह करते हैं, कोई विनयी हैं, कोई क्रोधी हैं—इससे पता चलता है कि पूर्व जीवन में कौन कैसा था या किसके अन्दर कौनसा संस्कार प्रबल था। पूर्व जीवनों के संस्कारों के अनुसार हमारे यहाँ के जीवन चलते हैं। यहाँ की कार्य प्रणाली हमारे संस्कारों से है।

❀ संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम्। यो. वि.

जिनके अन्दर जो-जो संस्कार प्रबल हैं, उनके ऊपर प्रबल रूप से संयम के प्रयोग करने से योगी उन संस्कारों के बारे में पूर्ण ज्ञान पायेंगे और संस्कार के बारे में पूर्ण ज्ञान मिलने से ही योगी पूर्व जन्मों के बारे में ज्ञान पायेंगे। उनको पूर्वजन्मों के कार्य, स्थान, वर्ण, आश्रमादि सब विषयों के दर्शन होने से पूर्व-पूर्व जन्मों के पाप-पुण्य, सुख-दुःखों के बारे में भी जानकारी हो जायगी। ये लोग ही जाति-स्मर बोले जाते हैं। कोई-कोई जाति स्मर रूप से ही जन्म लेते हैं।

पर-चित्त का ज्ञान❀

पतंजलि ने कहा कि प्रत्यय पर संयम के प्रयोग करने से दूसरे के चित्त के बारे में ज्ञान होगा। खंड-खंड ज्ञानों के नाम प्रत्यय हैं। चित्त से प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। अपने चित्त से और दूसरे के चित्त से भी प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। पहले अपने चित्त के प्रत्यय पर संयम के प्रयोग का अभ्यास अच्छी तरह करने से दूसरे के चित्त पर संयम का प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे के चित्त पर संयम का प्रयोग करने से उसके मनोभाव समझ में आ जाते हैं। साधारण मनुष्य दूसरे के आकार इंगित गतिविधि चाल-चलन कथा-वार्ता काम-काजों को देख कर उसके मनोभावों को जान लेते हैं। इस तरह से जाने हुए मनोभाव अस्पष्ट हैं। लेकिन योगी लोग दूसरे के चित्त से उत्पन्न प्रत्ययों पर संयम के प्रयोग से उसके मनोभावों को सुस्पष्ट रूप से जान सकते हैं।

★साधारण मनोभावों को जान लेने पर भी उसकी भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अज्ञात ही रह जाती है। इसलिये उसके मनोभावों पर भी संयम का प्रयोग करने से उसकी मनोभावनाओं की केन्द्रीय भाव्य और चिन्तनीय वस्तु अर्थात् अवलम्बन का ज्ञान भी आ जायगा।

अन्तर्धान की शक्ति❀❀

पतंजलि ने कहा है कि कायिक रूप के प्रति संयम के प्रयोग करने से काया की ग्राह्य शक्ति स्तम्भित होती है, दूसरे की चक्षु इन्द्रिय की दृष्टिशक्ति, कर्ण को श्रवण शक्ति, नासिका की गन्धन शक्ति, जिह्वा की

❀ प्रत्ययस्य पर चित्त ज्ञानम्॥ यो० ३-१९॥

★ नच तत्सालम्बनम् तस्याविषयी भूतत्वात्॥ यो० ३-२०॥

❀❀ काय रूप संयमात्तद् ग्राह्य शक्ति स्तम्भे चाक्षुषप्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम्॥३-२१॥

रसन शक्ति और त्वक् की स्पर्शन-शक्ति की ग्रहण शक्ति भी बेकार बन जाती है। योगी की काया दूसरे के लिए इन्द्रियातीत बन जाती है। यह ही योगियों का सम्पूर्ण संयम बल से अदृश्य, अश्रोतव्य, अगन्धनीय, अनास्वादनीय या अस्पर्शनीय होना है या अपने को अन्तर्धान करना है। जब शरीर और इन्द्रियों के साथ दूसरे का सम्पूर्ण सम्बन्ध छिन्न हो जाता है तब ही योगी का पूर्ण अन्तर्धान है। संयम सिद्ध योगी की अपने शरीर के रूप, रस,शब्द, स्पर्श, गन्ध पर संयम के प्रयोग करने से उन सब रूप रसादि से इन्द्रिय ग्राह्य शक्तियां स्तम्भित हो जाती हैं। बाहर के मनुष्यादि प्राणी उन सब के चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, रूप ज्ञानेन्द्रियों की रूप रसादि को ग्रहण करने की शक्तियाँ बेकार बन जाती हैं। वे योगी कोई किसी इन्द्रिय के द्वारा भी अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसी का नाम योगी का अन्तर्धान होना है। यह "इन्द्रजाल" नहीं है। यह वास्तव सत्य है। योगी लोग स्वकीय कायागत रूप रसादि के प्रति चक्षु-जिह्वादि से ग्रहणीय गुणों के प्रति निषेधात्मक संयम का प्रयोग करते हैं अर्थात् हमारे शरीर में रूप स्पर्शादि कुछ नहीं है—एतत् प्रकार ध्यान प्रवाह को उत्थापित करते हैं। उनकी उस प्रकार की अनिर्वचनीय शक्ति सम्पन्न भावना के प्रभाव से दूसरे की इन्द्रिय-शक्ति स्तब्ध होकर क्रियाहीन हो जाती है अर्थात् वे रूपादि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती है।

मृत्यु और मृत्यु के दिन को जानना❀

पंतजलि ने कहा कि सोपक्रम या निरुपक्रम कर्मों में जो कि पूर्व जन्मार्जित धर्माधर्म हैं उन पर संयम प्रयोग करने से या अरिष्ट दर्शन से अपरान्त का अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है। कर्म दो प्रकार के हैं—

(१) सोपक्रम और निरुपक्रम। जो कर्म फलदान के लिए प्रवृत्त हुए—वे सोपक्रम कर्म हैं। जो कर्म अब भी फल देने में प्रवृत्त नहीं हुए—वे निरुपक्रम हैं।

इन सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों के संस्कार लेकर ही मनुष्यों ने जन्म लिया है और उन उन संस्कारों के अनुसार जन्म, आयु और भोगों को प्राप्त किया है। जिस प्रकार के संस्कार हैं, उसी प्रकार के भोग और

❀स्पेयक्रम निरुपक्रमंच कर्म तत्संयनाद परान्त ज्ञानम् अरिष्टभ्योव। ।यो० ३-२२।

वायु भी होंगे। इन सब सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों के ऊपर संयम के प्रयोग करने से हमारे जीवन काल के अपरांत का अर्थात् मृत्यु का ज्ञान मिलेगा। आयु के दो अन्त हैं—एक जन्म और दूसरा मृत्यु। जन्म के दिन से आयु आरम्भ होता है और मृत्यु दिवस में शेष हो जाता है। चित्त में रहने वाले दो प्रकारों के कर्मों पर संयम के प्रयोग करने से योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है अर्थात् किस स्थान में किस काल में और किस स्थिति में मृत्यु होगी, यह योगी जान सकता है।

अरिष्टों को देखने से भी मृत्यु का ज्ञान होता है।❀ जो लोग योगी नहीं हैं वे लोग सोपक्रम निरुपक्रम कर्मों पर संयम के प्रयोग करने की प्रणाली को नहीं जानते हैं। साधारण लोग भी अरिष्टों को जान सकते हैं और उनसे मृत्यु को जान सकते हैं। अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। अरि अर्थात् शत्रुओं से हमारे भय के कारण हैं वे ही हमारे अरिष्ट हैं। अरिष्ट मृत्यु के पूर्व-लक्षण हैं। अपने शरीर मन और आत्मा के बारे में अरिष्ट आध्यात्मिक हैं। दूसरे प्राणियों के बारे में अरिष्ट आधिभौतिक हैं। आकाश, ग्रह, नक्षत्रादि के बारे में अरिष्ट आधिदैविक हैं। गुरु जी ने मुझको लगभग एक सौ प्रकार के अरिष्टों के बारे में परिचय दिया था।

विशेष-विशेष अरिष्टों के नमूने

(१) दृष्टि ऊपर हो गई, सुस्थिर नहीं है, रक्त वर्ण हो गई, परिवर्तित हो गई है, मुख के अन्दर उष्मा नष्ट हो गई है या नाड़ी ठंडी हो गई है इन सब लक्षणों से मालूम होता है कि मृत्यु अतिनिकट है। साधारणतः कठिन रोगियों में ये लक्षण आ जाते हैं।

(२) जिसका देहस्थ वायु स्तम्भित हो गया है। मर्म-स्थान छिन्न-भिन्न हो गये हैं। जल-स्पर्श असहनीय मालूम होता है तब उसकी मृत्यु आगत है, यह समझना चाहिये।

(३) आसन्न मृत्यु व्यक्ति अरुन्धती (जिह्वा), ध्रुव (नासाग्र), विष्णुपद (भ्रू मध्य); और मातृ-मण्डल (आँखों का मोती) को नहीं देख सकते हैं और उत्तराकाश की अरुन्धती और ध्रुव नक्षत्र को भी नहीं देख पाते हैं।

(४) श्वास वायु यदि नासापथ छोड़ कर मुख से निकलता हो—यह भी रोगी की निकट मृत्यु का लक्षण है।

❀ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त ज्ञानम्—अरिष्टेभ्यः यो. ३-२२॥

(५) नासिका बैठ गई है, बायें आँख से आँसू निकल रहे हैं, यह भी आसन्न मृत्यु का लक्षण है।

(६) दस रोज नासा के दोनों रन्ध्रों से या रवि नाड़ी से श्वास समान रूप से प्रवाहित हो तो डेढ़ महीने में ही मृत्यु होने वाली है और जब रवि या सूर्य नाड़ी दक्षिण में और चन्द्र नाड़ी वाम में हो तो भी।

(७) दो रोज रवि नाड़ी से श्वास प्रवाहित होना भी एक वर्ष के अन्दर मृत्यु की सूचना देती है।

(८) एक अहोरात्र वाम नासिका से श्वास प्रवाहित होने से आयु तीन वर्षों के अन्दर समाप्त होती है।

(९) स्वभाव के वैपरीत्य और शरीर के विपर्यय (ह.ले. १९०) आने से मृत्यु निकट है—समझना चाहिए।

(१०) जो दीप-निर्वाण का गन्ध नहीं पाता है। रात को आग देखने से डर जाता है, दूसरे की आँखों में अपना प्रतिबिम्ब नहीं पाता है—उसकी मृत्यु भी सन्निकट है।

(११) जो कर्ण-द्वय में चाप देने (दोनों हाथ रखने) से भीतर के शब्द नहीं सुन पाता है और आँखों पर चाप देने से भी चाक्षुष ज्योति को नहीं देख सकता है उसकी मृत्यु भी निकट है।

(१२) स्नान करने के साथ-साथ जिसकी छाती में पानी तुरन्त सूख जाता है वह केवल दस दिन और जीवित रहेगा - समझना चाहिए।

(१३) कपोत, रक्तपाद पक्षी, गृध्र, काक, उलूक या कोई दूसरा माँसाहारी पक्षी शिर पर गिरता हो तो यह भी आसन्न मृत्यु की सूचना है।

(१४) कोई कारण मालूम नहीं है लेकिन कृश व्यक्ति स्थूल हो रहा है और स्थूल व्यक्ति कृश हो रहा है—यह भी आसन्न मृत्यु का ही लक्षण है।*

(१५) जो व्यक्ति मूत्र या मल रक्त वर्ण या शुभ्र वर्ण पानी वमन करता हो या उस प्रकार वमन के स्वप्न भी देखता हो तो यह भी आसन्न-मृत्यु का सूचक है।

(१६) जो आकाश में छाया-पथ, ध्रुव नक्षत्र, शुक्र ग्रह या अरुन्धती को नहीं देख पाता है वह एक वर्ष से अधिक काल जीवित नहीं रहता है।

---

*यह रूढ़िमात्र ही है। काक के सिर पर झपटते रहने पर भी हमारी मृत्यु नहीं हुई—स०

(१७) जो सूर्य मण्डल को किरण माला से परिव्याप्त नहीं देखता है या अग्नि को सूर्यवत् देखता है उसकी मृत्यु एकादश मास के अन्दर होती है।

गुरुओं से वर्णित **इन सब अरिष्ट-लक्षणों में कुछ कुसंस्कार और रूढ़ियाँ भी सम्मिलित हैं**—ऐसा मालूम होता है।

योगबल से देहत्याग—योगी लोग अरिष्ट लक्षणों को देखकर ही समाधि-बल से देह-त्याग के लिए तैयार हो जाते हैं। इसीका नाम इच्छा-मृत्यु है। धार्मिक ब्राह्मण लोग योगासन में बैठे हुए देह को छोड़ना चाहते हैं। वीर, धार्मिक क्षत्रिय योद्धा लोग युद्ध-भूमि में आसन्न और अनिवार्य मृत्यु को समझ कर ही समाधि-योग से देह को छोड़ देते हैं। क्षत्रिय राजा लोग राज्यभार से मुक्त होकर महाप्रस्थान में चले जाते हैं और निर्जन वनप्रदेशों में तपस्या के बाद योगबल से देहों को छोड़ देते हैं। साधारण गृहस्थ लोग व्याधियों से प्रपीड़ित होकर या दुर्घटनाओं से आसन्न मृत्यु समझ कर उसी प्रणाली से देह को छोड़ना चाहते हैं। जो लोग इस प्रणाली को नहीं जानते वे भगवान् के स्वरूप-चिन्तन, भगवान् के नाम या मन्त्र का जप करते हुए देहों को छोड़ देते हैं। बाकी दूसरे लोग मुह्यमान या अचेतन होकर देहों को छोड़ते हैं।

रामायण, महाभारत और पुराणों में इस प्रकार देह छोड़ने का बहुत उल्लेख है। युद्ध भूमि में भीष्म, द्रोण और भूरिश्रवा का योग-बल से देह छोड़ने को तैयार होना आदि इसके बारे में उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। प्राचीन काल में 'किस रूप से मृत्यु होना चाहिये' इसके बारे में शिक्षा-प्रचलित थी। आज कल इच्छा-मृत्यु की शिक्षा अप्रचलित और बन्द हो गयी है। आज भी कोई-कोई योगी मृत्यु से बहुत पहले ही मृत्यु के लिये तैयार हो जाते हैं। आबू-शैल में मैंने पांच योगियों को मृत्यु के लिए प्रस्तुत देखा था और दो योगियों के योगासन पर ही देहत्याग को देखा था।

इस उद्देश्य से योगी लोगों की निर्जन पर्वत गुहा, वन-प्रदेश, भू-विवर या उपद्रव शून्य स्थान देहत्याग की स्थिति के अनुकूल हैं। पर्वत-गह्वर या भू-विवरों में उष्णता और शैत्य की दृष्टि से वायु सर्वदा परिवर्तनशील नहीं है। शरीर और मन की स्थिति वायु-प्रवाह के परिवर्तन के साथ परिवर्त्तित होती है। भू-विवर आत्मरक्षा और योग-साधना के लिये सर्वोत्तम हैं। इच्छा-मृत्यु भी वहाँ सुगम है।

कुम्भक के बल से या वायु की (वेग-वृद्धि) से योगी समाहित या बाह्यज्ञान-शून्य हो जाते हैं। उस समय लगातार कुम्भक करने से समाधि आ जाती है। बाहर की संज्ञा उनकी लुप्त हो जाती है। निःश्वसित वायु को पुनः-पुनः ग्रहण करने से भी अचैतन्य-अवस्था आ सकती है। क्षुत्-पिपासा सुख-दुःख वर्जित रहते हुये इसी स्थिति में योगी देह को छोड़ सकते हैं। योगी यह ध्यान रखते हैं कि बद्धवायु देह को प्रभावित नहीं कर सके। शरीर से परित्यक्त विषवायु को अतिद्रुत बार-बार ग्रहण करने से भी योगी को अतिशीघ्र अचैतन्य अवस्था आ सकती है। ठीक मृत्यु के समय देखा जाता है कि योगी को चेतना आ गयी है। अपनी इच्छा से वे प्राणों को देह से निकाल देते हैं। मृत्यु से योगी को शारीरिक या मानसिक कष्ट नहीं होता है। मृत्यु योगी के वश में आ जाती है। देह छोड़ते समय योगी को अपार आनन्द मिलता है।

योगी योग-बल से इस प्रणाली के द्वारा प्राणायाम के कला-कौशल के साथ देह-त्याग करते हैं। आबूशैल में मेरी समाधि-योग-शिक्षा के गुरु स्वामी **मोक्षानन्द** महाराज ने मेरे सम्मुख इस प्रकार से ही देह को छोड़ दिया था।

योगबल से देह-त्याग आत्म-हत्या नहीं है

योग-बल से देह-त्याग से योगी को आत्महत्या का पाप लगता है कि नहीं यह प्रश्न भी मेरे पास आया है। पहली बात तो यह है कि आत्मा की हत्या होती ही नहीं। आत्मा अमर है। मनो-विकार के कारण अपने जीवन के गुरुतर कर्तव्य-भार से बचने के लिये या किसी मानसिक विकार या दुर्बलता के कारण देह छोड़ने की चेष्टा या देह को छोड़ना—यह तो पाप अवश्य है। लेकिन देह से जो कुछ पूरा करना था सबका सब पूरा करके या महत्तर उद्देश्य-सिद्धि के लिये पूर्ण वैराग्य के साथ परमगति लाभार्थ देह को समाधि योग से छोड़ने की आप्तपुरुषों ने निन्दा नहीं की है बल्कि प्रशंसा ही की है। आप्त-पुरुषों के आचार या वाक्य ही हमारे लिये प्रमाण हैं। श्रुति या स्मृति भी इसकी विरोधी नहीं हैं।

मनोबल लाभ❀

पतंजलि ने कहा है कि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भावना, दुःखी

❀ मैत्र्यादिषु बलानि ॥ यो० ३-२३॥

व्यक्तियों के प्रति करुणा भावना, पुण्यवान् व्यक्तियों के प्रति आनन्द-भावना और पापी-व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा-भावना रखने से अत्यधिक बल-लाभ होता है। इन चारों भावनाओं के प्रति संयम का प्रयोग करने से मैत्री बल, करुणा-बल, आनन्द-बल और उपेक्षा-बल के लाभ होते हैं। इन चारों बलों से योगी जगद्वासी सर्व प्राणियों के हृदयों का जय कर सकते हैं। योगी प्राणियों के सुख-दाता सहृदय मित्र बनते हैं और इच्छा-मात्र से ही प्राणियों के खास-खास दुःखों को दूर कर सकते हैं। इन भावनाओं की संयम-सिद्धि से मन में असीम बल का संचार होता है। पाप से मन दुर्बल होता है। जिसके मन में पाप है उसके देह में बल रहने पर भी मन दुर्बल रहता है। जिसके मन में पाप नहीं है वह कभी कहीं से और किसी से भी भीत नहीं होता है, सर्वदा वह निर्भर रहता है। मन में दुर्बलता रहने से मन में शान्ति भी नहीं रहती है। मन सदा ही अशान्ति से पूर्ण रहता है। मन में रोग, द्वेष, हिंसादि नीच भावनायें रहने से मन कभी सुख को प्राप्त नहीं होता है। मन की इन नीच भावनाओं को दूर करने के लिये योगी मैत्री, करुणा और मुदिता, भावनाओं पर संयम के प्रयोग करते हैं। कोई-कोई योगी उपेक्षा पर संयम नहीं करते हैं क्योंकि उपेक्षा भावना का विषय बन ही नहीं सकता। मनुष्य जिस विषय के सम्पर्क में रहेगा उसका चित्त उसी में ही अभ्यस्त हो जायेगा और उस विषय में रहना ही उसको अच्छा लगेगा। सर्वदा सत् चिन्ता, सदिच्छा को चित्त में रखने से चित्त सत् हो जाता है और असत् चिन्ता और असदिच्छा चित्त में उठती ही नहीं। इसलिये योगी मैत्री आदि सद्भावनाओं पर संयम-प्रयोग करके चित्त को सत्, शुभ और पवित्र बना लेते हैं और मन को असीम बल का अधिकारी कर लेते हैं।

शारीरिक बल-लाभ❀

पतंजलि ने कहा है कि योगी हस्ती, व्याघ्र, सिंह, अश्व, वायु आदि बलशाली सत्त्वों के बलों पर संयम के प्रयोग करके, चित्त को तन्मय भावों से परिपूरित करके उन-उन बलिष्ठ तत्त्वों के बलों से शरीर को बलवान् करते हैं। शरीर में बल नहीं रहता है, चित्त का बल ही बल है। चित्त के बल से ही शरीर बलवान् होता है और बल-साध्य कर्म करता है। यदि योग-बल से चित्त में बलशाली सत्त्वों के बल को आहरण

❀ बलेषु हस्ति बलादीनि ।यो० ३-२४॥

किया जाय तो बलहीन भी बलशाली बन जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

दिव्य-चक्षु-लाभ❀

पतंजलि ने कहा है कि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति रूप आलोक को [अन्तःकरण के सार-स्वरूप सात्त्विक प्रकाश को] यदि सूक्ष्म, व्यवहित [अन्तरालवर्ती व्यवधानयुक्त], और विप्रकृष्ट [दूरवर्ती] वस्तुओं में संयम प्रयोग किया जाय तो वे सूक्ष्म, व्यवहित या विप्रकृष्ट वस्तुएँ यथार्थरूप से प्रकाशित (ज्ञान) हो जायेंगी। चक्षुओं की दृष्टि से जैसे वस्तु प्रकाशित होती है वैसे ही ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से या सात्त्विक आलोक से चक्षुओं की दृष्टि से अन्तर्हित वस्तुएँ भी प्रकाशित होती हैं। अति सूक्ष्म परमाणु आदि क्षुद्र वस्तु, भूमध्यस्थ या अन्तरालवर्ती गुप्त वस्तु या अति दूरवर्ती वस्तुओं में भी इस अन्तःकरणस्थ, अनन्यसाधारण ज्ञानशक्ति यानी ज्योतिष्मती आलोक के प्रयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम कभी-कभी योगी लोग "दिव्य चक्षु" बताते हैं।

जगत् चक्र का ज्ञान लाभ★

पतंजलि ने कहा है कि सूर्य के संयम का प्रयोग करने से चतुर्दश भुवनों का ज्ञान होता है। **चन्द्र** में संयम प्रयोग करने से ताराओं में गुच्छाकार में अवस्थिति सम्बन्ध में ज्ञान होता है और **ध्रुव** नक्षत्र में संयम प्रयोग करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है। इन सब सिद्धियों को योगी लोग बाह्य-सिद्धि बोलते हैं। इसके पश्चात् अध्यात्म-सिद्धि के बारे में भी पतंजलि ने कहा है।

शरीर तत्त्व का ज्ञान-लाभ❀❀

पतंजलि ने कहा है कि नाभि-चक्र में संयम के प्रयोग करने से काया-व्यूह अर्थात् शारीरिक संस्थान का ज्ञान लाभ होता है। शरीर में जहाँ जो कुछ है सबका सब मालूम हो जाता है। त्रिगुण-सत्त्व, रजः और (ह०ले०२००) तमः, त्रिदोष-वायु, पित्त और श्लेष्मा, त्रिःदेह—स्थूल सूक्ष्म और कारण, त्रिताप—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, त्रि-स्थिति—उत्तम, मध्यम और अधम, त्रि-गति—ऊर्ध्व, मध्य और अधः, चार स्थिति—जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति (और तुर्य), चार अवस्था—जन्म,

❀ प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञानम् ।यो० ३-२५।

★भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।।यो०३-२६।। चन्द्रे ताराव्यूह ज्ञानम् ।। यो. ३-२७।। ध्रुवे तद्गति ज्ञानम् ।।यो० ३-२८।।

❀❀ नाभिचक्रे काय व्यूह ज्ञानम् ।। यो. ३-२९ ।।